भारतीय ज्ञान परम्परा में प्रमाण-पत्र

(Certificate Course in Indian Knowledge System)

चिकित्सा विज्ञान CCIKS-103

Indian Medical Science

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी-263139

Toll Free : 1800 180 4025
Operator : 05946-286000
Admissions : 05946-286002
Book Distribution Unit : 05946-286001
Exam Section : 05946-286022
Fax : 05946-264232
Website : http://uou.ac.in

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति **CCIKS- 103**

कुलपति (अध्यक्ष)
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
प्रोफेसर ब्रजेश कुमार पाण्डेय,
संस्कृत एवं प्राच्य विद्या अध्ययन केंद्र,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
प्रोफेसर जे. के. गोदियाल,
पूर्व विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
हे.न.ग.विश्वविद्यालय श्रीनगर।
डॉ0 देवेश कुमार मिश्र,
संस्कृत विभाग, इन्दिरा गान्धी राष्ट्रीय मुक्त
विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

प्रोफेसर रेनू प्रकाश (संयोजक)
निदेशक, मानविकी विद्याशाखा
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
डॉ0 नीरज कुमार जोशी,
असि0 प्रोफे0-ए.सी.संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
श्री राहुल पन्त,
असि. प्रोफे-ए.सी. संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
डॉ0 सुधीर प्रसाद नौटीयाल,
असि. प्रोफे-ए.सी. संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

पाठ्यक्रम समन्वयक एवं सम्पादन

डॉ0 नीरज कुमार जोशी
असि0 प्रोफे0 ए.सी.,संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

इकाई लेखन	खण्ड	इकाई संख्या
श्री राहुल पन्त, असि. प्रोफे-ए.सी. संस्कृत विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	**खण्ड 1**	(इकाई 1 एवं 2)
प्रोफेसर (डॉ.) भगवान सहाय शर्मा एमडी, पीएचडी (आयुर्वेद) विभागाध्यक्ष, कौमारभृत्य तिब्बिया कॉलेज, करोल बाग, नई दिल्ली	**खण्ड 1**	(इकाई 3 एवं 4)
डॉ0 नीरज कुमार जोशी, असि0 प्रोफे0 ए.सी.,संस्कृत विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	**खण्ड 2** **खण्ड 4**	(इकाई 3) (इकाई 4)
डॉ0 कान्ता प्रसाद, असि0 प्रोफे0 ए.सी.,संस्कृत विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	**खण्ड 2**	(इकाई 1 एवं 2)
डॉ0 भानु जोशी, एसो. प्रोफे. योग विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	**खण्ड 3**	(इकाई 1 एवं 2)
डॉ0 रूची तिवारी, असि. प्रोफे-ए.सी. मनोविज्ञान विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	**खण्ड 3**	(इकाई 3)
डॉ0 प्रभाकर पुरोहित,	**खण्ड 4**	(इकाई 1, 2,3)

असि. प्रोफे-ए.सी. ज्योतिष विभाग

आवरण पृष्ठ

डॉ0 नीरज कुमार जोशी, असि0 प्रोफे0 ए.सी.,संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

प्रकाशक: (उ0 मु0 वि0, हल्द्वानी) -263139

कॉपीराइट @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

पुस्तक का शीर्षक- चिकित्सा विज्ञान CCIKS-103

प्रकाशन वर्ष : 2025

ISBN No.

मुद्रक:

नोट:- इस अध्ययन सामग्री का प्रकाशन छात्र हित में शीघ्रता के कारण किया गया है। सम्पादित संस्करण का प्रकाशन अगले वर्ष सम्भव है । इस सामाग्री का उपयोग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित प्रशासनिक अनुमति के बिना अन्यत्र कहीं नहीं किया जा सकता।

अनुक्रम

खण्ड- एक (Section-A) आयुर्वेद का परिचय	**पृष्ठ संख्या 01-04**
इकाई-1 आयुर्वेद का उद्भव एवं विकास	05-17
इकाई-2 आयुर्वेद के प्रमुख आचार्य एवं ग्रन्थ	18-29
इकाई-3 स्वास्थ्य की अवधारणा	30-37
इकाई-4 रोगों का अर्थ एवं स्वरूप	38-44
खण्ड- दो (Section-B) सिद्धान्त एवं ओषधि	**पृष्ठ संख्या 45**
इकाई-1 त्रिगुण, त्रिदोष एवं त्रिमल का परिचय एवं मूलभूत अवधारणा	46-58
इकाई-2 पंचमहाभूत, सप्तधातु एवं त्रयोदशाग्नि का परिचय एवं मूलभूत अवधारणा	59-69
इकाई-3 ओषधीय वृक्षों के गुण	70-91
खण्ड-3 (Section-C) चिकित्सा एवं योग	**पृष्ठ संख्या 92**
इकाई-1 योग दर्शन में चिकित्सा के सिद्धान्त	93-99
इकाई-2 आधुनिकचिकित्सा के रूप में योग	100-106
इकाई-3 योग दर्शन एवं गीता में मानसिक स्वास्थ्य	107-128
खण्ड- चार (Section-D) चिकित्सा एवं ज्योतिष	**पृष्ठ संख्या 129**
इकाई-1 चिकित्सा ज्योतिष का परिचय एवं अनुप्रयोग	130-135
इकाई-2 ज्योतिष एवं आयुर्वेद का परस्पर सम्बन्ध	136-143
इकाई-3 ज्योतिष में रोगोत्पत्ति के सिद्धान्त एवं उपचार	144-149
इकाई-4 आयुर्वेदीय दृष्टि में रोग विचार	150-166

खण्ड- एक (Section-A)
आयुर्वेद का परिचय

इकाई. 1 आयुर्वेद का उद्भव एवं विकास

इकाई की संरचना

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 आयुर्वेद का अर्थ एवं परिभाषा
1.4 आयुर्वेद का प्रयोजन
1.5 आयुर्वेद का उद्भव एवं विकास
1.5.1 आयुर्वेद का उद्भव
1.5.2 आयुर्वेद का विकास
1.6 सारांश
1.7 पारिभाषिक शब्दावली
1.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.10 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियों !

प्रस्तुत इकाई आयुर्वेद का उद्भव एवं विकास से सम्बन्धित है। वेद विश्व-संस्कृति के आधार स्तम्भ हैं। वेदों में ज्ञान विज्ञान का अनन्त भण्डार है। अतः मनु ने वेदों को सर्वज्ञानमय कहा है अर्थात वेदों में सभी प्रकार का ज्ञान और विज्ञान निहित है। आयुर्वेद शास्त्र की दृष्टि से वेदों का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि चारों वेदों में आयुर्वेद के विभिन्न अंगों और उपांगों का यथास्थान विशद् वर्णन हुआ है। वैदिक वाङ्मय वट वृक्ष के समान विशाल है और समस्त ज्ञान और विज्ञान को अन्तर्भूत किए है। चिकित्साशास्त्र का मुख्य उपजीव्य अथर्ववेद है। इसका कारण यह है कि इसमें रोगों की चिकित्सा का अन्य संहिताओं की अपेक्षा विस्तृत वर्णन है।आयुर्वेद के सिद्धान्त सत्य, सुदृढ़ और अपरिवर्तनीय हैं। आयुर्वेद रोग को समूल नष्ट करता है।आयुर्वेद रूपी सूर्य आकाश मण्डल में अपनी शाश्वत किरणों का लोककल्याण रूपी प्रकाश अनादिकाल से फैला रहा है। इस इकाई में आप आयुर्वेद का अर्थ, परिभाषा और आयुर्वेद का उद्भव एवं विकास का भली-भाँति अध्ययन करेंगे।

1.2 उद्देश्य

प्रिय विद्यार्थियों !

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात आप-

- आयुर्वेद को जान सकेंगे।
- आयुर्वेद का अर्थ एवं परिभाषा को जानेंगे।
- आयुर्वेद के उद्भव एवं विकास के बारे में जान सकेंगे।
- आयुर्वेद के ज्ञान की अविरल धारा को जान सकेंगे।

1.3 आयुर्वेद का अर्थ एवं परिभाषा

विश्व में उपलब्ध साहित्यों में 'वेद' सबसे प्राचीनतम् ग्रंथ है। 'वेद' शब्द का अर्थ है- **'विद्यते ज्ञायतेऽनेनेति वेदः'**अर्थात जिसके द्वारा कोई ज्ञान प्राप्त किया जाए वही वेद है। वेदों की संख्या चार है– जिनके नाम क्रमशः हैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद है।आयुर्वेद नित्य, शाश्वत एवं अनादि है।'आयुर्वेद'शब्द आयुः+वेद इन दो शब्दों के संयोग से बना है। इसकी निरुक्ति से इसका अर्थ होता है **'आयुषो वेदः'** अर्थात आयु का वेद है।जिस शास्त्र में आयु का अस्तित्व हो, जिससे आयु की प्राप्ति हो, उसे आयुर्वेद कहते हैं। यह भी कहा जा सकता है कि- जिस शास्त्र के द्वारा रोगियों का रोग दूर हो तथा प्राणियों का जीवन रोगरहित तथा दीर्घायु हो, वह आयुर्वेद है। आयुर्वेद एक विज्ञान है तथा विज्ञान सार्वभौम होता है। प्राचीन आचार्यों ने 'आयु' को इस प्रकार परिभाषितकिया है –

शरीरेन्द्रिय सत्त्वामसंयसोगो धारि जीवितम्।

नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुचयते।।च.सू 1/42

अर्थात शरीर, ज्ञानेन्द्रियाँ और कार्मेन्द्रियाँ, मन और आत्मा के संयोग को आयु कहते हैं। पंचमहाभूत विकारात्मक एवं आत्मा के योगायतन को शरीर कहा जाता है।

ज्ञानेन्द्रियाँ –श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और घ्राण हैं।

कार्मेन्द्रियाँ –वाणी, हाथ, पैर, मलद्वार और मूत्रमार्ग हैं।

मन उभयात्मक इन्द्रिय है। आत्मा ज्ञान का अधिकरण है।

'चैतन्यानुवर्तनमायुः' अर्थात चैतन्य की स्थिति को आयु कहा जाता है। और अमरकोष में जीवितकाल को आयु कहा है- **'आयुर्जीवितकालः'।**

आचार्यों ने आयु को चार भागों में विभक्त किया है। हितायु, अहितायु, सुखायु और दु:खायु चारों आयुओं का वर्णन जिस शास्त्र में हो उस शास्त्र को आयुर्वेद कहते हैं। आयुर्वेद सभी आयुवर्धक तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी उपचारों की तथा प्रयोगों की जानकारी देने मे सक्षम है। आयुर्वेद न केवल शरीर-रचना व औषध-संरचना की जानकारी देता है, अपितु भोज्यों के सेवन, पथ्य सेवन, अपथ्य परिहार, जड़ी बूटियाँ, रस, धातुरस इत्यादि के समानता पूर्वक प्रयोग के द्वारा अनेकों असाधारण और असाध्य रोगों के उपचार का ज्ञान भी प्रदान करता है। आयुर्वेद हमे आयु संवर्धन, दीर्घायु, संरक्षण तथा भौतिक शरीर के पुनर्नवीकरण के लिए प्रभावशाली उपकरण भी बताता है।

चार आयुओं का वर्णन-

1. हितायु- जो सबका हित करणे वाला हो, उसकी आयु को हितायु कहा जाता है। जो किसी दूसरे के धन का लोभी न हो, सत्यवादी और शान्तप्रकृति का हो, प्रत्येक कार्य को सोच समझकर करने वाला हो, सावधान रहने वाला, धर्म, अर्थ और काम का बिना किसी विरोध के प्रयोग करता हो, पूज्य जनों की पूजा करता हो, ज्ञानवान् हो, शांति प्रधान हो, वृद्ध जनों की सेवा करने वाला हो और स्मृति शाली हो।

2. अहितायु- हितायु के गुणों से रहित अर्थात विषम गुणों वाला अहितायु है।

3. सुखायु- जो शरीरिक और मानसिक रोगों से रहित हो, उसकी आयु सुखायु कहलाती है। यौवन सम्पन्न हो, बाल-वीर्य-यश-पराक्रम युक्त हो, शास्त्रों का ज्ञाता और व्यवहारज्ञ हो, प्रसन्न और सन्तुष्ट इन्द्रियों से युक्त, समृद्ध और विभन्न प्रकार के उपभोगों से युक्त, जो प्रत्येक सफलता को प्राप्त करने वाला हो और अपनी इच्छानुसार विचार करने वाला हो।

4. दु:खायु-सुखायु के गुणों से रहित अर्थात विपरीत गुणों वाला दु:खायु है।

आयुर्वेद शास्त्र के माध्यम से आयु के स्वरूप और उसकी रक्षा का ज्ञान होता है। हितकर आहार-विहार और आचरण करने से आयु में स्थिरता आ जाती है, अन्यथा अज्ञानतावश असावधानी करने और स्वास्थ्य के नियमों का पालन न करने से आयु का ह्रास होता है अर्थात आयु के रक्षणीय साधनों का उपदेश भी आयुर्वेद द्वारा ही होता है।

1.4 आयुर्वेद का प्रयोजन

आयुर्वेद विश्व की प्राचीनतम चिकित्सापद्धति तथा भारत की अमूल्य सांस्कृतिक धरोहर है। वेदों से आयुर्वेद का अवतरण हुआ है। और इसे अथर्ववेद का उपवेद कहा जाता है। प्राचीनकाल से ही सभी आचार्यों ने आयुर्वेद के दो प्रयोजनों को माना है- **"प्रयोजनं चास्य स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम्, आतुरस्य विकार-प्रश्नं च।"**एक तो स्वस्थ पुरुषों के स्वास्थ्य की रक्षा करना और दूसरा रोगियों के रोगों का निवारण करना।प्रथम उद्देश्य की पूर्ति के लिए दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या सद् वृत्त तथा त्रिविध उपस्तंभों का पालन आयुर्वेद के अनुसार करना चाहिए। आचार्यों का मत है कि इन उपायों के द्वारा मानव शरीर को क्षेत्ररूपी और बीजरूपी व्याधि उत्पन्न करणे वाले जीवाणुओं से सुरक्षा की जा सकती है। रोग से ग्रसित हो जाने पर रोगी के रोग का निवारण करना आयुर्वेद के दूसरे प्रयोजन के अंतर्गत आता है। प्राचीन

कालीन भारत में मनुष्य की आयु सौ वर्ष मानी जाती थी। **'शतायुर्वै पुरुषः'**। कुछ मनुष्य इससे कम और कुछ अधिक भी जीवित रहते हैं, परन्तु कालान्तर में जब शरीरिक और मानसिक रोगों के कारण जब मानव की आयु का मान घटने लगा तो अल्पायु के भयवश रोगों के निवारण व आयु के मान की रक्षा के लिए जिन उपायों को बताया गया उन संग्रहीत उपायों ने आयुर्वेद का रूप ले लिया।

वाग्भट जी ने आयुर्वेद के प्रयोजन के विषय में लिखा है कि-

आयुकामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम्।

आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः।।अष्टाङ्ग हृदयम् 1.2

अर्थात् मानव जीवन के पुरुषार्थ चतुष्टय धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष आदि का साधन आयु है। इसलिए आयु चतुष्टय की इच्छा करने वाले को आयुवेद के उपदेशों का आदर करना चाहिए। आयुर्वेद एक ऐसा शास्त्र है जो पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति के मार्ग को प्रशस्त करता है। वह आरोग्य जीवन प्रदान करता है। क्योंकि रोगी व्यक्ति न तो धार्मिक क्रियाएँ कर सकता है, न धनार्जन कर सकता है, न जीवन की सुख सुविधाओं का आनन्द ले सकता है, न मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है, उसका स्वयं का जीवन जीना भी कठिन हो जाता है। लेकिन आयुर्वेद ऐसा शास्त्र है, जो इन पुरुषार्थों को प्राप्त करा सकता है। आयुर्वेद मानव को आरोग्य जीवन प्रदान कराता है और जीवन दान से बढ़कर कोई दान नहीं होता- **'नहि जीवितदानाद्धि विशिष्यते'** (चरकसूत्र)। अतः आयुर्वेद एक पुण्यतम वेद है। ऋग्वेद आदि परलोकहित साधक होने के कारण पुण्य वेद माने जाते हैं, परन्तु आयुर्वेद लोकहित साधक के साथ-साथ परलोकहित साधक तथा आरोग्य को प्रदान करने के कारण महान और धर्मसाधन के कारण पुण्यतम वेद माना गया है।

तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः।

वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितम्।। च.सू. 1/43

वेद-वेदांगों का अध्ययन-अध्यापन या यज्ञादि का अनुष्ठान करने वाले विद्वान जब अस्वस्थता को प्राप्त हो जाते हैं तो उनके आर्य अवरुद्ध हो जाते हैं तो उन्हें आरोग्य लाभ के लिए किसी चिकित्सक की शरण में जाना पड़ता था, चिकित्सक के पास जाकर ही पुनः वे अपने कर्तव्यों का पालन करने के लिए समर्थ हो पाते हैं।

1.5 आयुर्वेद का उद्भव एवं विकास

आचार्य चरक ने आयुर्वेद को शाश्वत कहा है। क्योंकि जब से 'आयु' (जीवन) का प्रारम्भ हुआ और जब से जीव को ज्ञान हुआ तभी से आयुर्वेद की सत्ता प्रारम्भ होती है। आचार्य सुश्रुत ने यहाँ तक कहा है कि- ब्रह्मा ने सृष्टि के पूर्व ही आयुर्वेद की रचना की जिससे प्रजा उत्पन्न होने पर इसका उपयोग कर सके। इससे भी आयुर्वेद का शाश्वतत्व सिध्द होता है। सभी संहिताकारों ने ब्रह्मा से ही आयुर्वेद का प्रादुर्भाव बताया है। आयुर्वेद के सिद्धान्त सत्य, सुदृढ़ और अपरिवर्तनीय हैं। आयुर्वेद रोग को समूल नष्ट करता है।आयुर्वेद रूपी सूर्य आकाश मण्डल में अपनी शाश्वत किरणों का लोककल्याण रूपी प्रकाश अनादिकाल से फैला रहा है।

1.5.1 आयुर्वेद का उद्भव

आयुर्वेद अथर्ववेद के उपवेद के रूप में प्रसिद्ध है। वेद केवल हमारे धर्मग्रन्थ ही नहीं हैं, अपितु वे मानव की सभी समस्याओं का समाधान करने वाले ग्रन्थ हैं। इनकी उपादेयता को नकारा नहीं जा सकता। अथर्ववेद में आयुर्वेद के विषयों का बाहुल्य होने के कारण इसे अथर्ववेद का उपवेद

माना जाता है। अतः आयुर्वेद का वेदों से घनिष्ट सम्बन्ध है। संसार के सभी प्राणियों की इच्छा होती है कि वह सुखमय दीर्घ जीवन जियें। सभी शास्त्र मनुष्य को आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीनों प्रकार के दु:खों से निवृत्ति का मार्ग बतलाते हैं, परन्तु उनमें बताए गए नियमों का पालन करने के लिए उत्तम स्वास्थ्य और आरोग्य आवश्यक है। आयुर्वेद शास्त्र के उपदेशों को दो भागों में विभाजित किया गया है-

1. दैवीय उपदेश (ज्ञान)
2. लौकिक उपदेश (ज्ञान)

दैवीय उपदेश- सर्वप्रथम ब्रह्मा से आयुर्वेद का ज्ञान दक्ष प्रजापति ने प्राप्त किया। दक्ष प्रजापति से अश्विनीकुमारों ने और उनसे इन्द्र ने प्राप्त किया। ब्रह्मा से आयुर्वेद के प्रादुर्भाव आख्यान इस बात का संकेत करता है कि आयुर्वेद अनादि काल से है।दक्ष प्रजापति, अश्विनीकुमार तथा इन्द्र ऐतिहासिक व्यक्ति थे या मिथ्या इस विषय में अनेक विद्वानों ने भिन्न-भिन्न विचार प्रकट किए हैं। परंतु यह ज्ञात होता है कि की परम्परा तक वह देवलोक तक ही सीमित था। उसका रूप प्रागैतिहासिक था। भारतीय परम्परा में विद्याओं का स्रोत ब्रह्मा से प्रारम्भ होकर इन्द्र तक माना जाता है। ब्रह्मा से लेकर इन्द्र तक की परम्परा दैवीय परम्परा कही जाती है।

लौकिक उपदेश- सतयुग में सभी मानवों का आचार-व्यवहार पवित्र था और पृथ्वी, जल, वायु, देश, काल, औषध और धान्य आदि सभी अपने गुणों से सम्पन्न और समृद्ध थे। सभी प्राणी अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच और इन्द्रिय-निग्रह की प्रवृति से युक्त थे। धर्म परायण और सात्विक मनोवृत्ति होने के कारण उनका स्वास्थ्य भी उत्तम था। उनका शरीर निरोग तथा मन, सभी इन्द्रियाँ और अन्तरात्मा प्रसन्न थे। वे बलवान और ओजवान थे। जब प्राणी आलसी होते जा रहे थे। उनमें उत्साह और क्रियाशीलता कम हो रही थी। जीवन की सामग्रियों को संञ्चय करने की प्रवृति जागने लगी और संचय ने लोभ को स्थान दिया। लोगों ने धर्म और सदाचार के मार्ग को छोड़कर एक दूसरे पर आक्रमण कर एक दूसरे को हानि पहुँचाने लगे। इस अधर्म और अनाचार का प्रभाव प्रकृति के उपादानों पर भी पड़ने लगा। पृथ्वी, जल, देश, काल, औषध और खाद्य पदार्थों के गुणों में कमी हो गई। आहार-विहार के दोष से शरीर में अग्नि विषमता, धातुओं में कमी और शारीरिक क्रियाओं में व्यतिक्रम के कारण रोगों ने शरीर पर आक्रमण कर दिया। मानव रोगों से आक्रान्त हो गया। उसकी दिनचर्या अव्यवस्थित हो गई। वह अशान्त और बेचैन हो गया। उसके सभी कार्यों में रोगों ने एक रुकावट ला दी। विविध रोगों से आक्रान्त सभी वर्गों के प्राणियों के कष्टमय जीवन से दुखी होकर दयालु ऋषियों ने हिमालय के समीप एक गोष्ठी का आयोजन किया। इसमें समस्त ऋषि गण पधारे जिसमें अंगिरा, जमदग्नि, वशिष्ठ, कश्यप, आत्रेय, अगस्त्य, विश्वामित्र, मार्कण्डेय, आश्वलायन, परीक्षित, गार्ग्य, कात्यायन, काकायन, हिरण्याक्ष, मैत्रेय आदि अनेक महर्षि उपस्थित हुए। महर्षि ब्रह्मज्ञानी, तपस्वी, यम-नियम-दम युक्त थे। गोष्ठी में वे इस प्रकार विचार विमर्श करने लगे कि आरोग्य धर्म,अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति का प्रधान साधन है, परन्तु वर्तमान में अनेक व्याधियाँ उत्पन्न होकर आरोग्य को नष्ट कर रही है। इसलिए इन रोगों की शान्ति के लिए इनसे बचने का उपाय खोजा जाए। यह वृतान्त चरकसंहिता में प्राप्त है-

धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।
रोगास्तस्यापहर्त्तारः श्रेयसो जीवितस्य च।।
प्रादुर्भूत मनुष्याणामन्तरायो महानयम्।

कः स्यात्तेषां शमोपाय इत्युक्त्वा ध्यानमास्थिताः ।। (च.सू.1/15-16)

रोगों की समस्या के लिए सभी ने विचार विमर्श किया और सभी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि देवराज इन्द्र ही रोगों से बचा सकते हैं, उन्हीं के पास रोगों की शान्ति का उपाय है, परन्तु सभी के सामने यह समस्या थी कि देवराज इन्द्र के पास कौन जाए। इस बात को सुनकर महर्षि भरद्वाज ने कहा कि इस कार्य के लिए मेरी नियुक्ति की जाए- **अहमर्थे नियुज्येऽयमत्रेति प्रथमं वचः । भरद्वाजोऽब्रवीतस्माद् ऋषिभिः स नियोजितः ।** च.सू.1/191

सभी ने एकमत होकर इस बात को स्वीकार कर लिया।

इन्द्र के द्वारा भरद्वाज ऋषि को आयुर्वेद का उपदेश-

भरद्वाज ऋषि इन्द्र के पास गए और तब उन्होंनेमहर्षियों के विचार-विमर्श का सार इन्द्र को सुनाया कि मृत्युलोक में अनेक रोग उत्पन्न हो गए हैं। आप उन रोगों की शान्ति का उपाय बताने की कृपा करें। इसके पश्चात भरद्वाज को पुण्य तथा शाश्वत आयुर्वेद का उपदेश दिया, जिसके प्रथम ज्ञाता ब्रह्मा थे।

भरद्वाज ऋषि द्वारा उपदेश- भरद्वाज ने जो आयुर्वेद का ज्ञान इन्द्र से प्राप्त किया उसका ज्ञान उन्होंने ऋषियों को दिया। आत्रेय उनमें प्रमुख ऋषि थे।

आत्रेय के शिष्य- भरद्वाज ऋषि से प्राप्त ज्ञान को आत्रेय ने अपने छः शिष्यों को दिया। उनके छः शिष्यों के नाम इस प्रकार है- अग्निवेश, जतूकर्ण, पराशर, हारीत और क्षारपाणि। उस ज्ञान को ग्रहण करके उन्होंने अपनी-अपनी संहिताएं रची। अग्निवेश संहिता प्रथम थी, इसी संहिता का आगे चलकर चरक और दृढ़बल ने प्रतिसंस्कार किया ऑउए वह **'चरकसंहिता'** के नाम से लोक में सबसे अधिक प्रसिद्धि को प्राप्त हुई। आज भी वह प्रधान संहिता मानी जाती हैं।

संहिताओं की रचना –आत्रेय के समय का जीवन रोगग्रस्त था और उसके उपचार की भी कोई व्यवस्था नहीं थी। इसी काल से आयुर्वेद का लौकिक ज्ञान प्रारम्भ होता है। त्रिस्कन्ध का विस्तार होकर संहिता ग्रन्थों की रचना प्रारम्भ होने लगी।आयुर्वेद शास्त्र को पृथ्वी पर लाने का श्रेय महर्षि भरद्वाज को जाता है। भरद्वाज ऋषि ने सभी प्राणियों के हित के लिए आयुर्वेद का प्रचार-प्रसार इस पृथ्वी पर किया और स्वयं भी आरोग्य सम्पन्न दीर्घायु हुए- **'तेनायुरमितं लेभे भरद्वाजः सुखान्वितम्।'** (च.सू. 1/24)

आत्रेय के दूसरे शिष्यों में भेल हैं, जिनकी भेलसंहिता है, परन्तु यह खण्डित अवस्था में प्राप्त होती है। इसके मुख्य अंश लुप्त और नष्ट हो गये हैं। जूतकर्ण, पराशर और क्षारपाणि रचित संहिताएं भी आज उपलब्ध नहीं हैं। केवल उनके उद्धरण यहाँ-वहाँ प्राप्त होते हैं। हारीत द्वारा रचित हारीतसंहिता भी उपलब्ध नहीं है। जो हारीतसंहिता वर्तमान में प्राप्त होती है, वह किसी परवर्ती विद्वान द्वारा रचित प्रतीत होती है। क्योंकि इसकी भाषा शैली में वास्तविकता का अभाव है। आत्रेय के शिष्यों ने आयुर्वेद के ग्रंथों का निर्माण कर उसको विस्तार प्रदान किया है।

आचार्य चरक के अनुसार आयुर्वेदावतरण

चरक संहिता में भरद्वाज का नाम नहीं आया है। आत्रेयआदि ऋषियोंनेसाक्षात इन्द्र से आयुर्वेद के ज्ञान की प्राप्ति की थी- **"हिमवन्तममराधिपतिगुप्तं जग्मुर्भृग्वङ्गत्रिवसिष्ठकश्यपागस्त्य पुलस्त्यवामदेवासितगौतमप्रभृतयो महर्षयः"** इस अंश को कतिपय विद्वान अधिक प्रमाणिक मानते हैं, क्योंकि भरद्वाज का इसमें उल्लेख नहीं है और न इनकी शिष्य परम्परा का। ऋषि गण के ग्राम्यवास और ग्राम्य अन्न गोधूम आदि के कारण उनके शरीर स्थूल और मेदस्वी हो गए। उनकी शरीरिक क्रियाएँ भी मन्द पड़ गई और उनका स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण वे

अपना दैनिक जीवन का निर्वाह ठीक प्रकार से करने में असमर्थ हो गए। फिर सभी ऋषि गणों ने विचार किया की ग्राम को छोड़कर हिमालय पर जाया जाए। क्योंकि वह अमराधिपति इन्द्र द्वारा सुरक्षित है। यह निश्चय करके भृगु, अंगिरा, अत्रि, वसिष्ठ, कश्यप, अगस्त्य, पुलस्त्य, वामदेव, असित और गौतम आदि महर्षि हिमालय पर चले गये। इन्द्र ने सभी महर्षियों का स्वागत किया और ग्राम वास को दोषों का मूल कारण बताया। इन्द्र ने कहा कि आपने अपने शरीर की रक्षा करके प्रजा को अनुग्रहीत किया है और आयुर्वेद के ज्ञान का उपयुक्त समय बताया और इसके कारण दो लाभों की प्राप्ति होगी। पहला स्वयं की रक्षा, दूसरा प्रजा की भलाई। यह आयुर्वेद का उपदेश मैंने अश्विनीकुमारों से, अश्विनीकुमारों ने दक्ष प्रजापति से और दक्षप्रजापति ने ब्रह्मा से प्राप्त किया है। प्रजा की आयु अल्प है और उसमें जरा एवं अनेक व्याधियाँ हैं इसी कारण तप, दम, नियम, दान, अध्ययन तथा सम्पत्ति का लाभ प्राप्त नहीं कर पाते । परन्तु आयुर्वेद आयुवर्द्धक, जरा-व्याधि-नाशक, ओजस्, उत्साहवर्धक तथा अमृत के समान है। यह पवित्र ज्ञान है। यह कल्याण एवं रक्षक है। यह उच्चकोटी का ज्ञान है। इसलिए आप इसे पढिए, सुनिए, समझिए और इसका प्रचार-प्रसार करके प्रजा को अनुग्रहीत कीजिए। यह महान वेद है और महर्षियों का ज्ञान है। इन्द्र के इन मधुर वचनों को सुनकर वहाँ उपस्थित महर्षियोंने इन्द्र की वेद की ऋचाओं द्वारा स्तुति की और प्रसन्नतापूर्वक उनका अभिनन्दन किया। इसके बाद इन्द्र ने उन महर्षियों को आयुर्वेद रूपी अमृत का ज्ञान दिया और औषधि निर्माण की भी शिक्षा प्रदान की। दिव्य औषधियों से उन्हें परिचित कराया।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार आयुर्वेदावतरण

सुश्रुतसंहिता में सृष्टि के पूर्व ही ब्रह्मा के द्वारा आयुर्वेद के प्रादुर्भाव का उल्लेख है । आयुर्वेदावतरण का आचार्य चरक के समान ही वर्णित क्रम है केवल आत्रेय के स्थान पर धन्वन्तरि का नाम आया है। इन्द्र से धन्वन्तरि ने आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त कर अपने शिष्यों सुश्रुत प्रभृति को इसमें शिक्षित किया।

धन्वन्तरि का आयुर्वेद उपदेश- ब्रह्मा जी ने ब्रह्मसंहिता की रचना की थी। जो कि एक हजार अध्यायों में एक लाख श्लोकों में निबद्ध है। इसके बाद मनुष्यों की आयु कम होने के कारण आयुर्वेद को आठ अंगों में विभाजित कर दिया। आयुर्वेद के आठ अंग इस प्रकार से हैं-

1. शल्यतन्त्र 2. शालाक्यतन्त्र 3. कायचिकित्सातन्त्र 4. भूतविद्यातन्त्र

5. कौमारभृत्यतन्त्र 6. अगदतन्त्र 7. रसायनतन्त्र 8. वाजीकरणतन्त्र

आयुर्वेद को इस प्रकार से आठ अंगों में विभक्त किया गया है। धन्वन्तरि जी ने अपने शिष्यों से यह पूछा कि तुम्हें किस तंत्र का ज्ञान प्राप्त करना है ? तब शिष्यों ने उन्हें **शल्यतन्त्र**प्रधान आयुर्वेद का उपदेश देने को कहा। धन्वन्तरि ने **'एवमस्तु'** कहा और उपदेश प्रारम्भ किया।

धन्वन्तरि ने आयुर्वेद के दो प्रयोजन कहे- रोगी के रोग की मुक्ति और स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य का संरक्षण।

कश्यपसंहिता-कश्यप मत में भी प्रायः इसी प्रकार का आख्यान है। इसके अनुसार स्वयं ब्रह्मा ने सृष्टि के पूर्व ही आयुर्वेद की रचना की उनसे क्रमशः यह ज्ञान दक्ष प्रजापति, अश्विनीकुमार और इन्द्र को प्राप्त हुआ। कश्यप, वशिष्ट, अत्रि और भृगु इन चार ऋषियों ने इन्द्र से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया और पुनः अपने पुत्रों और शिष्यों को दिया।

दक्ष प्रजापति से **अष्टांगसंग्रह** में आयुर्वेद के ज्ञान के बारे में इस प्रकार उद्धृत किया है- आत्रेय, धन्वन्तरि, भरद्वाज, निमि, काश्यप आदि महर्षियों ने इन्द्र से ज्ञान प्राप्त किया। **अष्टांगहृदय** और

भावप्रकाश में आत्रेय को इन्द्र से ज्ञान प्राप्ति की बात उद्धृत है। आत्रेय ने अपने शिष्यों को आयुर्वेद का उपदेश देकर इस शास्त्र को विस्तार प्रदान किया।

आयुर्वेद के तीन सम्प्रदाय माने जाते हैं पहला आत्रेय-सम्प्रदाय यह चरक की परम्परा में है। दूसरा धान्वन्तर-सम्प्रदाय यह सुश्रुत परम्परा में है और तीसरा काश्यप सम्प्रदाय यह कश्यप की परम्परा है। लेकिन इनके साथ ही एक पौराणिक परम्परा भी प्राप्त होती है जिसे **'भास्करसम्प्रदाय'** कहा जाता है। चारों वेदों को देखकर प्रजापति ने चिन्तन किया और अन्य आयुर्वेद नामक पंचम वेद का निर्माण किया इसी वेद को भास्कर नाम दिया। भास्कर ने इसी के आधार पर एक स्वतन्त्र संहिता का निर्माण किया जो **'भास्करसंहिता'** कहलाई। अपने 16 शिष्यों को भास्कर ने आयुर्वेद का ज्ञान दिया और उन्होंने भी अपनी-अपनी संहिताएँ रची। इनका विवेचन पुराणों में प्राप्त होता है। भास्कर के शिष्य और उनके ग्रन्थ निम्नलिखित है-

1. धन्वन्तरि - चिकित्सातत्त्वविज्ञान।
2. दिवोदास - चिकित्सादर्पण।
3. काशिराज - चिकित्साकौमदी।
4. अश्विनीकुमार - चिकित्सासारतन्त्र।
5. नकुल - वैद्यकसर्वस्व।
6. सहदेव - व्याधिसिन्धुविमर्दन।
7. यम - ज्ञानार्णव।
8. च्यवन - जीवदान।
9. जनक - वैद्यसन्देहभंजन।
10. बुध - सर्वसार।
11. जाबाल - तन्त्रसार।
12. जाजलि - वेदाङ्गसार।
13. पैल - निदान।
14. कवथ - सर्वधर।
15. अगस्त्य - द्वैधनिर्णयतन्त्र।

आयुर्वेद अनादि और शाश्वत है। इसका ज्ञान सर्वदा रहा है। ब्रह्मा को आयुर्वेद का ज्ञान था और क्रमशः यह देवलोक से मृत्युलोक पर इसका प्रचार हुआ। ऋषियों की स्वाध्याय परम्परा में अधीति, बोध, आचरण और प्रचारण ये चार अवस्थाएँ मानी थी। ज्ञान इन चार स्तरों के द्वारा परिपक्वता को प्राप्त करता है। आयुर्वेद रूपी ज्ञान गङ्गा हमेशा प्रवाहित रही है और अनेक स्रोतों से इसमें ज्ञानवारि की धारा का मिश्रण हुआ है। मानव को जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफलता तभी प्राप्त हो सकती है, जब वह स्वस्थ और निरोग हो और उसका ज्ञान हमें आयुर्वेद से ही प्राप्त हो सकता है।

1.5.2 आयुर्वेद का विकास

आयुर्वेद आनादि और शाश्वत है। उसका ज्ञान हमेशा रहा है। ब्रह्मा के मुख से निर्गत आयुर्वेद सृष्टि के साथ-साथ चला आ रहा है। भारतीय वाङ्मय में ब्रह्मा को सर्वज्ञानमय माना है। ब्रह्मा को ही सभी संहिताओं और संग्रह ग्रन्थों में आयुर्वेद का प्रथम उपदेश देने वाला बताया गया है। सर्वप्रथम आयुर्वेद का उपदेश ब्रह्मा ने दिया ऐसा बताया गया है और उनका प्रथम ग्रन्थ

ब्रह्मसंहिता था। ब्रह्मा ने दक्ष प्रजापति और सूर्य अर्थात भास्कर को आयुर्वेद का उपदेश दिया। जिसके कारण दो परम्परायें विकसित हुई। एक दक्ष परम्परा और दूसरी भास्कर परम्परा। दक्ष परम्परा को सिद्धान्त पक्ष की प्रधान थी और भास्कर परम्परा में चिकित्सा की प्रधानता थी। ब्रह्मा जी से अश्विनीकुमारों ने भी आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त की। यह वर्णन गदनिग्रह ग्रन्थ में प्राप्त होता है-

'अश्विनोर्वचनं श्रुत्वा ब्रह्म वचनमब्रवीत्'

पश्चात् अश्विनीकुमारों से इन्द्र ने आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया, ऐसा चरकसंहिता और आयुर्वेद के दूसरे ग्रन्थों में वर्णित है-**अश्विनीभ्यां भगवान् शक्रः प्रतिपेदे हि केवलम्** (च.सू.1)

चरकसंहिता में कहा गया है कि इन्द्र से आयुर्वेद का अध्ययन भरद्वाज तथा भृगु, अंगिरा आदि दस ऋषियों ने किया था। काश्यपसंहिता के अनुसार इन्द्र ने कश्यप, वसिष्ठ, अत्रि और भृगु इन ऋषियों को उपदेश दिया। सुश्रुतसंहिता में वर्णन आता है कि इन्द्र से धन्वन्तरि ने आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया-**इन्द्रादहम्।**

भरद्वाज नाम के अनेक आचार्य हुए हैं। बार्हस्पत्य भरद्वाज दीर्घायु से सम्पन्न थे। उनकी आयु अमित थी। उनको अमितायु भी कहा जाता था- **'तेनायुरमितं लेभे भरद्वाज सुखान्वितः'** (च.सू. 1/26) भरद्वाज से आत्रेय ने और आत्रेय से अग्निवेश, भेल, जतूकर्ण, पराशर, हारीत और क्षारपाणि इन छः शिष्यों ने आयुर्वेद की शिक्षा ग्रहण की। इसके पश्चात इन आचार्यों ने अपनी-अपनी अलग संहिताओं की रचना की। अग्निवेशसंहिता ही चरकसंहिता है और यही आयुर्वेद का प्रमुख और प्राचीन ग्रन्थ है। आचार्य चरक द्वारा अग्निवेशसंहिता का प्रतिसंस्कार किया गया है और इसमें कुछ नए अंशों को समाहित किया गया। चरक के नाम पर ही आगे चलकर इसका नाम चरकसंहिता प्रसिद्ध हुआ।अन्य आचार्यों की संहिता प्राप्त नहीं होती है। एक भेल संहिता है, वह भी जीर्ण-शीर्ण अवस्था में है और जो हारीतसंहिता है वह अन्य किसी की रचना है। क्योंकि उसकी भाषा, विषय और शैली संहिता ग्रन्थों से भिन्न है। आयुर्वेद की परम्परा का थोड़ा बहुत अन्तर तो सभी आयुर्वेद के ग्रन्थों में प्राप्त होता है। परन्तु सभी ने आयुर्वेद का आदि आचार्य और प्रवर्तक ब्रह्मा को ही माना है। आयुर्वेद का उदय वैदिक काल से ही प्रकट होता है। इस प्रकार यह आयुर्वेद गङ्गा वैदिक काल से ही विशाल और गम्भीर प्रवाह में बहती है तथा परवर्ती आचार्यों के विचारों की गङ्गा को अपने अंदर समाहित करके सम्पूर्ण विश्व में लम्बे समय से जन-जन के जीवन में व्याप्त है। आयुर्वेद का प्रभाव चिकित्सा जगत में सार्वभौम था और विश्व की सम्पूर्ण चिकित्सा पद्धतियों ने बहुत आयुर्वैदिक विषयों को ग्रहण किया है।प्राचीन आचार्यों ने अनेक संहिता ग्रन्थों की रचना की। उनमें से सभी वर्तमान में उपलब्ध नहीं हैं। आयुर्वेद के मूल आचार्य अश्विनीकुमार, इन्द्र तथा भरद्वाज थे। इन्हीं की परम्परा में धन्वन्तरी, आत्रेय, कश्यप और भेड आदि ऋषियों ने आयुर्वेद का उपदेश दिया और चिकित्साशास्त्र में पूर्व के आचार्यों के मतों को निर्देशित किया गया है। सुश्रुतसंहिता के टीकाकार डल्हण ने निबंधसार-संग्रह की रचना की है। इन्होंने सुश्रुत के सहपाठी कांकायन का उल्लेख किया है। आत्रेय के द्वारा वाह्लीक देश के श्रेष्ठ वैद्या के रूप में काकायन का नाम निर्देशित किया है- **'वाह्लीकभिषकया वाह्लीभिषजों वरः'** इन तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि कांकायन दूसरे देश के होते हुए भी भारतीय वैद्यों के साहचर्य में थे। ये वाह्लीक देश के मुख्य वैद्य और दिवोदास के शिष्य थे। इससे यह सिद्ध होता है कि आयुर्वेदीय चिकित्सा का प्रचलन भारतवर्ष में ही नहीं, अपितु दूसरे देशों में भी था। अतः दूसरे देशों के विद्यार्थी आयुर्वेद की

शिक्षा हेतु यहाँ आया करते थे। संभवतः हिरण्याक्ष, पैङ्गल्य आदि आचार्य विदेशी होते हुए भी उनका संपर्क भारतीय चिकित्सकों के साथ था । इसलिए उनके मतों का सम्मान करते संहिताकारों ने अपने ग्रन्थों में निर्देशित किया है। धन्वन्तरि के शिष्यों के नामों से भी यह ज्ञात होता है कि अन्य देशों से अध्ययन हेतु यहाँ आए थे। उनके शिष्य औपधेनेव, वैतरण, औरभ्र, पौष्कलावत, करवीर्य और गोपुरक्षित हैं । भारतीय आयुर्वेद अति प्राचीनकाल से प्रचलित चिकित्सा की पद्धति है। जो अपनी शाखा-प्रशाखाओं में भारत में ही नहीं, अपितु दूसरे देशों में फैला हुआ है। आयुर्वेद की अमृत धारा अनादि काल से प्रवाहित होकर सभी प्राणियों को रोगों से मुक्ति दिलाने का कार्य कर रही है। आयुर्वेद मानवके लिए एक वरदान है।

1.6 सारांश

प्रिय विद्यार्थियों !

प्रस्तुत इकाई में आपने आयुर्वेद का अर्थ, परिभाषा और उद्भव एवं विकास का भली-भाँति अध्ययन किया। आपने जाना कि आयुर्वेद अथर्ववेद के उपवेद के रूप में प्रसिद्ध है। आयुर्वेद विद्वानों द्वारा सम्मानित पुण्यतम वेद है । आयुर्वेद तीनों लोकों के लिए हितकारी है। अतः आयुर्वेद को 'पुण्यतम वेद' की संज्ञा दी गई है।

तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः।
वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितम् ।। च.सू. 1/43

सुश्रुत, चरक, वाग्भट्ट आदि आचार्यों ने आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद माना है। **'आयुषः पालनं वेदमुपवेदमथर्वणः'** । वेदाङ्ग का अध्ययन करने वाला जब किसी रोग से ग्रस्त होता है, तो वह आयुर्वेद की शरण में जाता है। क्योंकि स्वस्थ पुरुष ही धार्मिक या लौकिक क्रियाओं का सम्पादन कर सकता है। इसलिए आयुर्वेद धर्म,अर्थ,काम और मोक्ष का मूल कारण है। सृष्टि के प्रारम्भ में जो नियम प्रयोग किये जाते थे। वे आज भी मान्य हैं, आयुर्वेद की चिकित्सा इन्हीं के आधार पर विश्व चिकित्सा पद्धति में अपना स्थान बनाए हुए है। आयुर्वेद के सिद्धान्त सत्य, सुदृढ़ और अपरिवर्तनीय हैं। आयुर्वेद रोग को समूल नष्ट करता है।आयुर्वेद रूपी सूर्य आकाश मण्डल में अपनी शाश्वत किरणों का लोक कल्याण रूपी प्रकाश अनादिकाल से फैला रहा है।

1.7पारिभाषिक शब्दावली

- सिद्धान्त - निश्चित मत
- चिकित्सा - उपचार, इलाज़
- नष्ट - चौपट, नाश
- संहिता - संयोग, संग्रह, संकलन
- समाहित - व्यवस्थित रूप में एकत्र किया हुआ।
- शाश्वत - सदा रहने वाला, जो कभी नष्ट न हो

अभ्यास प्रश्न 1

(1) निम्नलिखित प्रश्नों के उचित विकल्प का चयन कीजिये।

1. आयुर्वेद किस वेद का उपवेद है ?

(क) ऋग्वेद

(ख) यजुर्वेद

(ग) सामवेद

(घ) अथर्ववेद

2. चिकित्सातत्त्वविज्ञान ग्रन्थ के आचार्य हैं।

(क) धन्वन्तरि

(ख) भरद्वाज

(ग) आत्रेय

(घ) चरक

3. 'पुण्यतम वेद' कहा जाता है।

(क) ऋग्वेद

(ख) आयुर्वेद

(ग) सामवेद

(घ) अथर्ववेद

4. हितायु के गुणों से रहित अर्थात विषम गुणों वाला है।

(क) दुखायु

(ख) सुखायु

(ग) अहितायु

(घ) हितायु

5. आयुर्वेद का आदि आचार्य और प्रवर्तक माना जाता है।

(क) ब्रह्मा

(ख) चरक

(ग) इन्द्र

(घ) अश्वनीकुमार

(2) रिक्तस्थानों की पूर्ति कीजिये।

1. सुश्रुतसंहिता के टीकाकार ---------- ने निबंधसार-संग्रह की रचना की है।

2. आयुर्वेद शास्त्र के उपदेशों को ---------- भागों में विभाजित किया गया है।

3. ब्रह्मा जी ने ---------- की रचना की थी। जो कि एक हजार अध्यायों में एक लाख श्लोकों में निबद्ध है।

4. सुखायु के गुणों से रहित अर्थात विपरीत गुणों वाला ---------- है।

5. प्राचीनकाल से ही सभी आचार्यों ने आयुर्वेद के -------- प्रयोजनों को माना है

1.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1. 1 घ, 2 क, 3 ख, 4 ग, 5 क

2. 1 डल्हण, 2 दो, 3 ब्रह्मसंहिता, 4 दुखायु, 5 दो

1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. आयुर्वेद-परिचय एवं आधारभूत सिद्धान्त।

2. आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास।

3. चरक संहिता।

4. सुश्रुतसंहिता।

1.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. आयुर्वेद का अर्थ एवं परिभाषा लिखिए।
2. आयुर्वेद का उद्भव एवं विकास पर प्रकाश डालिए।

इकाई. 2 आयुर्वेद के प्रमुख आचार्य एवं ग्रन्थ

इकाई की संरचना

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 आयुर्वेद के प्रमुख आचार्य एवं ग्रन्थ
2.3.1 आयुर्वेद का परिचय
2.3.2 आयुर्वेद की विशेषताएँ
2.3.3 आयुर्वेद के प्रमुख सम्प्रदाय
2.3.4 आचार्य चरक – चरकसंहिता
2.3.5 आचार्य सुश्रुत – सुश्रुतसंहिता
2.3.6 आचार्य वाग्भट –अष्टाङ्गसंग्रह
2.3.7 आचार्य माधव – माधवनिदान
2.3.8 आचार्य शार्ङ्गधर – शार्ङ्गधरसंहिता
2.3.9 आचार्य भावमिश्र–भावप्रकाश
2.3.10 आचार्य चक्रपाणि दत्त–आयुर्वेद दीपिका
2.11 सारांश
2.12 पारिभाषिक शब्दावली
2.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
2.14 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
2.15 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियों !

प्रस्तुत इकाई 'आयुर्वेद के प्रमुख आचार्य एवं ग्रन्थ' से सम्बन्धित है। आयुर्वेद को पूर्वाचार्यों ने अथर्ववेद का उपवेद माना है । आचार्य चरक ने आयुर्वेद को शाश्वत (नित्य) कहा है। सर्वविदित है कि आयुर्वेद रूपी ज्ञान गङ्गा की अविरल धारा गुरु शिष्य परम्परा के माध्यम से ही इस धरा तक पहुंची है । संसार के समस्त प्राणियों की इच्छा होती है कि वह सुखमय एवं दीर्घ जीवन जियें, यह तभी सम्भव है जब वे स्वस्थ रहेंगे, इसलिए उन्हें आयुर्वेद की शरण में जाना चाहिए क्योंकि आयुर्वेद स्वास्थ्य संरक्षण और रोग मुक्ति का शास्त्र है। आयुर्वेद को सभी शास्त्रों का आधार भी कहा जाता है, यह सुखमय दीर्घ जीवन प्रदान करने वाला शास्त्र है । आयुर्वेद के ज्ञान को जन मानस तक पहुँचाने में विभिन्न आचार्यों का योगदान रहा है। आयुर्वेद के उन्हीं प्रमुख आचार्यों से परिचय करवाना इस इकाई का ध्येय है ।

2.2 उद्देश्य

प्रिय विद्यार्थियों !

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात आप-

- आयुर्वेद के अस्तित्व को जाना सकेंगे ।
- आयुर्वेद की विशेषताओं को जान सकेंगे ।
- आयुर्वेद के महत्व से परिचित होंगे ।
- आयुर्वेद के प्रमुख आचार्यों से परिचित होंगे ।
- आयुर्वेद के ज्ञान की अविरल धारा को जान सकेंगे ।

2.3 आयुर्वेद के प्रमुख आचार्य एवं ग्रन्थ

आयुर्वेद को जीवन का विज्ञान कहागयाहै, यह चिकित्सा विज्ञान की दुनिया में भारत का एक महत्वपूर्ण योगदान है । आयुर्वेद मनुष्य को सामाजिक, मानसिकऔरशारीरिक रोगों से मुक्त करता है,और कैसे व्यवहार करना है, इसका उपदेश देता है । बीमारियों को कैसे रोका जाये यह सिखाता है । आयुर्वेद के द्वारा बुखार से लेकर कैंसर तक की बीमारियों का उपचार किया जा सकता है ।

आयुर्वेद का अस्तित्व-

भारत में मानव स्वास्थ्य की सुरक्षा और रोग मुक्ति के लिए चिकित्सा की अनेक पद्धतियाँ प्रचलित हैं । जैसे- यूनानी, एलोपैथी, बायोकैमिक, रेडियोथिरेपी आदि । इनसे मानव को स्वास्थ्य लाभ भी प्राप्त हुआ है, और इनके विद्वानों की संख्या भी नित्यप्रति बढ़ती जा रही है। किन्तु प्राचीनता, शोध, प्रयोग और इस देश के निवासियों से प्राकृतिक रूप से अनुकूलता की दृष्टि से आयुर्वेद प्रणाली का स्थान सर्वोच्च है । आयुर्वेद भारत की अपनी मौलिक देना है । आयुर्वेद की प्राचीनता, प्रमाणिकता और परिणाम की निश्चयात्मक स्थिति के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की शंका अथवा विवाद नहीं है । धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की प्राप्ति मानव शरीर द्वारा ही सम्भव है । अत: शरीर को स्वस्थ और निरामय रखना मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है, **"शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्।"**शरीरको स्वस्थ एवं निरोगी रखने के लिए जीवन में आयुर्वेदउपयोगि सिद्ध होता है । जो शास्त्र आयु का ज्ञान कराता है, उसे आयुर्वेद कहते

हैं। आयुर्वेद लक्षणों द्वारा सुख-दुख, हित-अहित, प्रमाण और अप्रमाण द्वारा आयु का उपदेश करता है। मनुष्य की सबसे पहली इच्छा होती है कि वह आरोग्य रहे। आरोग्यता ही मनुष्य जीवन की सार्थकता बतलाती है। आरोग्य रहकर ही मनुष्य अपना लौकिक और पारलौकिक कर्त्तव्य पूरा करने में समर्थ होता है। पूर्ण आयुष्य और दीर्घायुष्य प्राप्ति उसे ही होती है जो निरोग और सशक्त हैं तथा सब प्रकार के कर्त्तव्य पालन करने में समर्थ हैं। शरीर और जीवात्मा के संयोग का नाम जीवन है तथा उस जीवन की उपस्थिति ही आयुष्य है। आरोग्य के लिए आयुर्वेद के उपदेशों को विधिपूर्वक निर्वाह करना मनुष्य मात्र का प्रथम कर्त्तव्य है। आरोग्य के बिना पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति नहीं हो सकती। आचार्य वाग्भट्ट कहते हैं- **आयु:कामयमानेन धर्मार्थ सुख साधनम्। आयुर्वेदोपदेषुविधेय: परमादर: ।।**इसलिए मनुष्य को स्वस्थ रहने के लिए, दीर्घ जीवन के लिए तीन प्रमुख उपायों का पालन अनिवार्य रूप से करना चाहिए। १ आहार, २ निद्रा, ३ ब्रह्मचर्य। शरीर और स्वास्थ्य के सन्दर्भ में जितना प्राचीन, प्रामाणिक, पुष्ट और तर्क संगत विवेचन के साथ विस्तृत साहित्य आयुर्वेद के पक्ष में प्राप्त है, उतना और किसी विज्ञान या चिकित्सा प्रणाली के सम्बन्ध में नहीं पाया जाता।

समदोष: समाग्निश्च समधातु मलक्रिय:।
प्रसन्नात्मेन्द्रिय मन: स्वस्थ इत्यभिधीयते।।

आयुर्वेद न केवल मनुष्य के शारीरिक धातु, अग्निसाम्य के मापदण्ड का ही ध्यान रखता है, अपितु वह मनुष्य को आत्म, इन्द्रिय एवं मन से भी प्रसन्न रखता है। तभी सही अर्थों में मनुष्य को स्वस्थ कहा जा सकता है। आज सुख-सुविधा सम्पन्न होते हुए भी हम विभिन्न प्रकार की शारीरिक बीमारियों और मानसिक समस्याओं के साथ जीवन यापन कर रहे हैं। आज संसार के अत्याधुनिक जीवन यापन करने वालों में लगभग ६० से ७०% व्यक्ति ब्लडप्रेशर (हाइपर टेंशन) डायबिटीज, मेंटल स्ट्रेस आदि व्याधियों से ग्रस्त हैं। ऐसे में उत्तम स्वास्थ्य हेतु आयुर्वेद की जीवन में कितनी उपयोगिता है यह देखा जा सकता है। हमारे यहाँ वैदिक मन्त्रों में ईश्वर से शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य तथा मन को शुभ संकल्पों से युक्त बनाने की प्रार्थना की गई है- **ॐ यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति। दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मन: शिवसङ्कल्पमस्तु**॥आयुर्वेद में स्वास्थ्य से अभिप्रायशारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक तीनों ही प्रकार से स्वस्थ रहने से है।

2.3.1 आयुर्वेद का परिचय

भारतीय आयुर्वेद अति प्राचीनकाल से प्रचलित चिकित्सा की पद्धति है। जो अपनी शाखा-प्रशाखाओं में भारत में ही नहीं, अपितु दूसरे देशों में भी फैला हुआ है। आयुर्वेद की अमृत धारा अनादि काल से प्रवाहित होकर सभी प्राणियों को रोगों से मुक्ति दिलाने का कार्य कर रही है। आयुर्वेद मानव के लिए एक वरदान है। आयुर्वेद शब्द आयु:+वेद दो शब्दों के संयोग से बना है। इसका अर्थ होता है **"आयुषो वेद:"** अर्थात जो आयु का वेद है। आयु और वेद इन दोनों शब्दों को अलग-अलग जानकर आयुर्वेद शब्द का अर्थ जानना सरल हो जाता है। जिस शास्त्र में आयु का अस्तित्व हो, जिससे आयु का ज्ञान हो, जिसमें आयु सम्बन्धी विचार हो, जिससे आयु की प्राप्ति हो, उसे आयुर्वेद कहते हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि जिस शास्त्र के द्वारा रोगियों का रोग दूर हो तथा प्राणियों का जीवन रोगरहित तथा दीर्घायु हो, वह आयुर्वेद है। प्राचीन काल से ही आचार्यों ने आयुर्वेद के दो प्रयोजन माने हैं। एक तो स्वस्थ पुरुषों के स्वास्थ्य

की रक्षा करना और दूसरा रोगियों के रोगों का निवारण करना। सुखमय एवं दीर्घ जीवन की कामना प्रत्येक प्राणी की होती है। शास्त्रों में मनुष्य को आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीन प्रकार के सन्तापों से मुक्त होने का मार्ग बताया गया है। लेकिन उनमे वर्णित विधानों का पालन करने के लिए उत्तम स्वास्थ का होना अनिवार्य है। स्वास्थ्य का संरक्षण और रोग निवारण का शास्त्र आयुर्वेद है। अतः आयुर्वेद सभी शास्त्रों का आधार है। यह प्राणिमात्र के लिए सर्वाधिक उपयोगी एवं महत्वपूर्ण शास्त्र है। आयुर्वेद कीउत्पति ब्रह्मा जी द्वारा सृष्टि की उत्पति से पूर्व माना गया है। ब्रह्मा से आयुर्वेद का ज्ञान दक्षप्रजापति ने प्राप्त किया। दक्ष प्रजापति से अश्विनी कुमारों ने और उनसे इन्द्र ने प्राप्त किया। इन्द्र ने महर्षि भरद्वाज को शाश्वत आयुर्वेद का उपदेश दिया। भरद्वाज ने आयुर्वेद का ज्ञान ऋषियों को दिया। उन महर्षियों में महर्षि आत्रेय प्रथम थे। आत्रेय ने अपने अपने छः शिष्यों को वह उपदेश दिया। उस ज्ञान को ग्रहण कर उन्होंने अपनी अपनी संहिताएं रची। उन संहिताओं में अग्निवेश संहिता प्रथम थी, इसी संहिता का आगे चलकरचरक और दृढ़बल ने प्रतिसंस्कार किया और **'चरकसंहिता'** के नाम से लोक में सबसे अधिक प्रसिद्धि को प्राप्त हुई। आज भी वह प्रथम संहिता मानी जाती है ।आचार्य चरकने आयुर्वेद को अनादि और शाश्वत कहा है। जिसकी उत्पति नहीं होती उसे अनादि कहा जाता है। आयुर्वेद की उत्पति नहीं होती, अतः यह अनादि है। आयुर्वेद अथर्ववेद का उपवेद है। वेद नित्य हैं, अतः आयुर्वेद भी नित्य है। जिस शास्त्र के द्वारा रोगियों का रोग दूर हो तथा प्राणियों का जीवन रोगरहित तथा दीर्घायु हो, वह आयुर्वेद है। आयुर्वेद एक विज्ञान है तथा विज्ञान सार्वभौम होता है।

2.3.2 आयुर्वेद की विशेषताएँ

आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद कहा जाता है। आयुर्वेद अनादि और शाश्वत है। उसका ज्ञान हमेशा रहा है। ब्रह्मा के मुख से प्रकट आयुर्वेद सृष्टि के साथ-साथ चला आ रहा है और उसकी रक्षा कर रहा है। आयुर्वेद न केवल प्राचीन विद्या है, अपितु यह अनादि और शाश्वत शास्त्र है। चरक ने आयुर्वेद को इस प्रकार कहा है- **"त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यम्"** आयुर्वेद के शाश्वत पक्ष को चरक ने माना है। अथर्ववेद में आयुर्वेद के विषयों का बाहुल्य होने के कारण इसे अथर्ववेद का उपवेद माना जाता है। आयुर्वेद का वेदों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। विद्वानों ने आयुर्वेद को **"पुण्यवेद"** की संज्ञा दी है। आयुर्वेद तीनों लोकों के लिए हितकारी है।

तस्यायुषो पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः।
वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितम्॥

आचार्य कश्यप ने आयुर्वेद को पञ्चम वेद माना है, क्योंकि आयुर्वेद वेद पर ही आश्रित है। किसी भी वेद या वेदांग का अध्ययन करने वाला जब किसी रोग से ग्रस्त होता है, तो वह आयुर्वेद की शरण में जाता है। स्वस्थ पुरुष ही धार्मिक या लौकिक क्रियाओं का सम्पादन कर सकता है। अतः आयुर्वेद धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का मूल कारण है। आयुर्वेद निरोगी जीवन देने वाला है। आयुर्वेद आयु के विज्ञान का शास्त्र है। विज्ञान जगत को पञ्चभौतिक मानता है। आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्त, पञ्चमहाभूत, त्रिदोष, रस-गुण-वीर्य-विपाक आदि सभी का आधार विज्ञान है। क्षार के संयोग से अम्ल उदासीन हो जाता है। इस आधुनिक विज्ञान के सिद्धान्त को चरकसंहिता में हजारों साल पहले कहा गया है- **"क्षारं हि याति माधुर्यं शीघ्रमम्लद्रव्योपसंहितः"**। सृष्टि के प्रारम्भ में जो नियम प्रयोग किए जाते थे, वे आज भी

मान्य हैं। आयुर्वेद की चिकित्सा इन्हीं के आधार पर विश्व चिकित्सा पद्धति में अपना स्थान बनाए हुए है। आयुर्वेद के सिद्धान्त सत्य, सुदृढ़ और अपरिवर्तनीय हैं। आयुर्वेद रोग को समूल नष्ट करता है। आज सभी वैज्ञानिकों के आकर्षण का केन्द्र आयुर्वेद बना हुआ है, क्योंकि आयुर्वेद स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करता है और रोगी व्यक्ति को रोग मुक्त करता ही नहीं बल्कि आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन त्रिविध दुखों से हमेशा मुक्त होने का मार्ग दिखाने का कार्य करता है। आयुर्वेद ऐहलौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के श्रेय का साधक शास्त्र है। आयुर्वेद की विशेषताएँ यह है कि- आयुर्वेद पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) के मूल कारण आरोग्य का दाता है। यह दैविक कर्मों के विधि-विधान का ज्ञान कराता है, जैसे आहार-विहार स्नान आदि। यह मैत्री, करुणा और प्रेम के श्रेष्ठ मार्ग को निर्देशित करता है ।इसमें महामारी जैसे भयंकर रोगों से बचने के उपायों को बताया गया है, अधर्म के परित्याग को बतायागया है, क्योंकि अधर्म ही सभी रोगों का मूल कारण है। इसमें आचरण का विधान दिनचर्या और ऋतुचर्या के माध्यम से किया गया है। यह शरीर के 'योगक्षेम' कर भावों के पालन के लिए जागरूकता उत्पन्न करता है। अतःआयुर्वेद ही ऐसा शास्त्र है जो मानव को विविध वेदनाओं के जाल से, रोगों से ग्रस्त मानव को रोगमुक्त और आरोग्यमय जीवन देता है।

2.3.3आयुर्वेद के प्रमुख सम्प्रदाय

आयुर्वेद तीन सम्प्रदायों में विभाजित है ।पहला आत्रेय सम्प्रदाय, दूसरा धान्वन्तर सम्प्रदाय, तीसरा काश्यप सम्प्रदाय ।ये आयुर्वेद शास्त्र के तीन प्रमुख सम्प्रदाय हैं।

1. **आत्रेय सम्प्रदाय-** इस सम्प्रदाय में अग्निवेश आदि आचार्यों ने अपनी संहिताएं लिखी हैं। इस सम्प्रदाय की संहिता कायचिकित्सा प्रधान है।
2. **धान्वन्तर सम्प्रदाय-** इस सम्प्रदाय में सुश्रुत आदि आचार्यों ने अपनी संहिताएं लिखी हैं। इस सम्प्रदाय की संहिता शल्यतन्त्र प्रधान है।
3. **काश्यप सम्प्रदाय-** इस सम्प्रदाय में काश्यप आदि आचार्यों ने अपनी संहिताएं लिखी हैं। इस सम्प्रदाय की संहिता कौमारकृत्य प्रधान है।

इन संहिताओं से पहले भी ब्रह्मसंहिता, इन्द्रसंहिता तथा भास्करसंहिता के अस्तित्व का उल्लेख प्राप्त होता है, लेकिन ये संहिताएं ग्रन्थ रूप में निबद्ध नहीं थी। प्राचीनकाल में आयुर्वेद की अनेक संहिताओं की रचना विभिन्न महर्षियों के द्वारा हुई। उन संहिताओं का ज्ञान परवर्ती ग्रन्थों में प्राप्त उद्धरणों के द्वारा होता है। आचार्य आत्रेय और आचार्य धान्वन्तर सम्प्रदाय के आचार्यों ने आयुर्वेद के समस्त विषयों का संकलन संहिता के रूप में किया है।

2.3.4आचार्यचरक–चरकसंहिता

आचार्य चरक का काल लगभग ३०० से २०० ई० पू० माना जाता है। आचार्य चरक आयुर्वेद के मर्मज्ञ एवं महर्षि के रूप में प्रसिद्ध हैं। वाग्भट्ट प्रथम ने आचार्य चरक को स्पष्टतः उद्धृत किया है। शाकों के सम्प्रदाय में चरक का नाम प्रचलित था और उन्ही में से एक कनिष्क का वैद्य था ।आचार्य चरक का सम्भवतः नागवंश था एवं इनका काल गुप्त वंश के शासन काल का रहा है। यह यायावर प्रकृति के व्यक्ति थे, अर्थात विचरण करने वाले। विचरण करके इन्होंने विभिन्न वनस्पति जन्य औषधियों का निर्माण कर उनको शास्त्र में लिखा, इनके द्वारा लिखित आयुर्वेद का प्रसिद्ध शास्त्र चरकसंहिता है। चरकसंहिता के आदि आचार्य अग्निवेश हैं, इन्होंने आत्रेय के उपदेशों का सूत्र रूप में संकलन किया, यह पहला स्तर है। दूसरे स्तर में चरक ने अग्निवेशतन्त्र

को भाष्य के रूप में विस्तृत किया। इसके बाद दृढ़बल ने जिस अग्निवेशतन्त्र का प्रतिसंस्कार किया वह अधूरा था। उसमें चिकित्सास्थान के तीस के स्थान पर तेरह अध्याय थे। कल्पस्थान और सिद्धिस्थान भी नहीं था । चिकित्सास्थान के सत्रह आध्यायों में कल्पस्थान और सिद्धिस्थान को जोड़कर ग्रन्थ को पूर्ण किया। इस प्रकार आदि आचार्य अग्निवेश, दूसरे संस्कर्ता चरक और तीसरे प्रतिसंस्कर्ता दृढ़बल से प्रतिसंस्कारिता 'चरकसंहिता' का वर्तमान स्वरूप सामने आया। दृढ़बल के प्रतिसंस्करण के बाद यह प्रतिष्ठा को प्राप्त हुई यह तृतीय स्तर है। चरकसंहिता आत्रेय सम्प्रदाय का प्रमुख ग्रन्थ माना जाता है। इसमें कायाचिकित्सा का मुख्य रूप से उल्लेख किया गया है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान जिस समय शैशवावस्था में था। उस समय चरकसंहिता में प्रातिपादित आयुर्वेदीय विषयों से सम्पूर्ण संसार प्रभावित एवं आश्चर्यचकित था। आयुर्वेदीय बृहत्त्रयी में चरकसंहिता का प्रथम स्थान है। वाग्भट्ट ने भी चरकसंहिता को प्रथम स्थान दिया है। आचार्य चरक की चिकित्सा प्राकृतिक चिकित्सा है। चरक का कहना है कि औषधी रोग को दबाने के लिए नहीं अपितु प्रकृति को सहायता देने के लिए प्रयुक्त होती है। आचार्य चरक द्वारा उद्धृत 'स्वभावोपरमवाद' प्राकृतिक चिकित्सा का मूल है। रोगों की रोकथाम और उपचार के अतिरिक्त उस समय महर्षियों का ध्यान वयः स्थापन और दीर्घायुकी ओर विशेष रूप से था। आयुर्वेदीय द्रव्यगुण को वैज्ञानिक आधार शिला पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्य चरक को प्राप्त है । षट्पदार्थों,रसगुण वीर्यविपाक आदि, द्रव्यों का रचनानुसार तथा कर्मानुसार वर्गीकरण सर्वप्रथम चरकसंहिता में प्राप्त होता है । औषधों के नामरूप ज्ञान के साथ प्रयोगज्ञान पर भी जोर दिया गया है। चरकसंहिता पर आचार्यों ने टीकायें लिखी हैं- भट्टारकहरिश्चन्द्र ने चरकन्यास, स्वामिकुमार ने चरकपंजिका, जेज्जट ने निरन्तरपदव्याख्या, चक्रपाणि ने आयुर्वेददीपिका, शिवदाससेन ने तत्वचन्द्रिका, गङ्गाधरराय ने जल्पकल्पतरु, योगिन्द्रनाथसेन ने चरकोपस्कार, ज्योतिषचन्द्र सरस्वती ने चरकप्रदीपिका टीका लिखी है। चरकसंहिता का अरबी, फारसी और अंग्रेजी भाषा में भी अनुवाद हुआ है।

2.3.5 आचार्य सुश्रुत – सुश्रुतसंहिता

आचार्य सुश्रुत को शल्य तन्त्र का जनक कहा जाता है। आचार्य सुश्रुत ने दिवोदास धन्वन्तरि के उपदेशों को अपनी संहिता में निबद्ध किया। यह शल्यतन्त्र का उपजीव्य ग्रन्थ है। इतिहासकारों ने इनका काल १० वीं शती के बाद माना है । महाभारत के अनुशासन पर्व (अ.४) में और गरुड़पुराण (अ.१३९/८-११) में आचार्य सुश्रुत विश्वामित्र के पुत्र बताये गये हैं। सुश्रुतसंहिता में अध्यायों की संख्या १२० है । प्राचीन संहिताओं में इतने अध्याय ही प्राप्त होते हैं । इसके अतरिक्त उत्तरतन्त्र में ६६ अध्याय हैं । इसमें शालाक्य, कौमारभृत्य, कायचिकित्सा तथा भूतविद्या का वर्णन है । सुश्रुतसंहिता भी चरकसंहिता के समान ही आयुर्वेद के विषयों से सम्बन्धित ग्रन्थ है। प्राचीन संहिताओं में चरकसंहिता और सुश्रुतसंहिता ये दो संहितायें ही प्राप्त होती हैं । सुश्रुतसंहिता शल्यप्रधान ग्रन्थ है ।यह शल्यसम्प्रदाय का प्राप्त प्रतिनिधि ग्रन्थ है । इसका चिकित्साविज्ञान चरक की अपेक्षा अधिक व्याहवारिक और प्रायोगिक है ।सुश्रुतसंहिता में यन्त्रशस्त्रों का विस्तृत वर्णन किया गया है । मूढगर्भ, अश्मरी, अर्श आदि में शस्त्रकर्म को बताया है। सुश्रुतसंहिता में सर्वप्रथम शवच्छेद का वर्णन प्राप्त होता है। हृदय को काटकर उसके चार प्रकोष्ठों का वर्णन प्राप्त होता है। अत: आचार्य सुश्रुत शल्यतन्त्र के साथ-साथ शरीरशास्त्र के भी जनक माने जाते हैं। सन्धान शल्य (Plastic Surgery) का भी सुश्रुतसंहिता में वर्णन है।

चिकित्सा के सभी अंगों के साथ, कुमारागार और सूतिकागार भी वर्णित है । आत्ययिक (Emergency) की अनेक अवस्थाओं उष्णवातातपदग्ध, शीतवर्षनिलहत धूमोपहत आदि का वर्णन है। सुश्रुतसंहिता आयुर्वेद का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। विशेषतः शल्यतन्त्र के क्षेत्र में इसके अवदान अपूर्व एवं ऐतिहासिक हैं ।सुश्रुतसंहिता की संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी में टीकायें लिखी गई हैं । संस्कृत में कुछ टीकायें इस प्रकार से हैं- गयदास की बृहद् पञ्जिका या न्यायचन्द्रिका, चक्रपाणिदत्त की भानुमती, डल्हण की निबन्धसंग्रह, हाराणचन्द्र की सुश्रुतार्थसंदीपन टीका। सुश्रुतसंहिता का लैटिन, जर्मन, अरबी भाषाओं में भी अनुवाद हुआ है। भारत में मराठी, बंगाल आदि में भी अनुवाद हुआ है।

2.3.6आचार्य वाग्भट –अष्टाङ्गसंग्रह

आचार्य वाग्भटका काल लगभग पाँचवीं शती के आस-पास माना जाता है ।अष्टाङ्गसंग्रह और अष्टांग हृदय नामक आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थों के यह रचयिता हैं। इन्होंने अपना परिचय ग्रन्थ के अन्त में दी गई पुष्पिका में इस प्रकार दिया है- **"इति श्री सिंहगुप्तसुनुवाग्भटविरचितायामष्टाङ्गहृदयसंहितामुत्तरस्थानं समाप्तम् ।** इससे यह पता चलता है कि इनका जन्म सिन्धु प्रदेश में हुआ था। इनके पिता का नाम सिन्धुगुप्त था। इन्होंने आयुर्वेद का ज्ञान अपने पिता से प्राप्त किया । इनके पितामह भी आयुर्वेद के ज्ञात थे । अतः आयुर्वेद का ज्ञान इन्होंने अपने पूर्वजों से प्राप्त हुआ। इनका जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था और मूल रूप से ये वैदिक धर्म के अनुयायी थे। चीनी यात्री इत्सिंग (६७१-६९५) ई० ने अपने यात्रा विवरण में लिखा है कि एक व्यक्ति ने आठों अंगों का संग्रह बनाया है जो सम्पूर्ण भारत में फैल चुका था। अतः इससे यह स्पष्ट होता है कि इत्सिंग ने जिसका विवरण किया है वह आचार्य वाग्भट का ग्रन्थ ही था ।इससे इनका समय सातवीं शताब्दी से पूर्व ही प्रमाणित होता है ।अष्टाङ्गसंग्रहविभाजन से यह ज्ञात होता है कि संग्रह की अपेक्षा सूत्रस्थान का संक्षिप्तीकरण किया गया है । शारीरस्थान आधा रह गया है । निदानस्थान समान है । चिकित्सास्थान को विस्तृत किया गया है । उत्तरस्थान भी कम है । इस प्रकार अष्टाङ्गसंग्रह का संक्षितरूप ही अष्टांगहृदय है। अष्टाङ्गसंग्रहमें धातुओं की वृद्धि के लक्षणों का सामंजस्य दोषलक्षणों के साथ किया गया है जैसे रसवृद्धि में श्लेष्मविकार और पित्तविकार आदि । द्रव्य विज्ञान में औषधियों का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है । ऋतु सन्धि का कालविभाग में वर्णन किया गया है क्योंकि उसी समय प्रायः रोग उत्पन्न होते हैं । ऋतु के लक्षण को काल, मास और राशि के आधार पर किया है। अष्टाङ्गसंग्रह में अर्ध्वगुद रोग का वर्णन प्राप्त होता है इससे मुख से दुर्गन्ध आती है । दन्तोपाटन का वर्णन भी है । चौदह प्रकार के नेत्र रोग बताए गए हैं । रोगों का वर्गीकरण रोग विज्ञान प्रकरण में विस्तृत रूप से प्राप्त होता है।

अष्टाङ्गसंग्रह की भाषा कठिन, अनेक छन्दों वाली, ऐतिहासिक भौगोलिक और सामाजिक है। जबकि अष्टांगहृदयसंक्षिप्त, सरल और केवल पद्यमय है इसकी सरलता के कारण इसका प्रचार अधिक हो गया और इसको आयुर्वेद की बृहत्संहिताओं (बृहत्त्रयी) में सम्मिलित कर लिया गया। अष्टाङ्गसंग्रहका अरबी, जर्मन, तिब्बती भाषा में अनुवाद हो चुका है। अष्टाङ्गसंग्रह के टीकाकार अरुणदत्त, हिमाद्रि। अष्टांगहृदय प्रमख, चन्द्रनन्दन, इन्दु इत्यादि थे।

2.3.7 आचार्य माधव – माधवनिदान

आचार्य माधव ने अपने जीवन के विषय में कुछ स्पष्ट नहीं लिखा है। इनके पिता का नाम चन्द्रकर था। इनका समय सातवीं शताब्दी के आसपास माना जाता है। आचार्य माधव ने अष्टांगहृदय से अनेक अंशों को उद्धृत किया है। माधवनिदान ग्रन्थ का वास्तविक नाम 'रोगविनिश्चय' है। यह रोग विज्ञान का प्राचीनतम ग्रन्थ है। आचार्य माधव ने 'रोगविनिश्चय' नामक ग्रन्थ को लिखकर रोग-विज्ञान की सभी समस्या को दूर कर दिया है। इनके विषय में प्रसिद्ध उक्ति है- **"निदाने माधव: श्रेष्ठ:"**। संहिताओं में वातव्याधि पर बड़ा विस्तृत वर्णन है। वातरक्त एवं उरुस्तम्भ का दो स्वतन्त्र आध्यायों में वर्णन है। आमवात का संहिताओं में संकेतमात्र मिलता है। इसका स्वतन्त्र स्वरूप खड़ा करने का श्रेय आचार्य माधव को जाता है। संहिताओं में शूल का संक्षेप वर्णन किया गया है। सर्वप्रथम माधव ने इसका विस्तृत और स्वततंत्र वर्णन किया है। अम्लपित्त का माधवनिदान में स्वतन्त्र वर्णन किया गया है। गुप्तकाल में मेदोरोग सबसे अधिक देखा गया था, तो माधव ने इसी का वर्णन अपनी कृति माधवनिदान में किया। श्लीपद का चरक और सुश्रुत ने दूसरे प्रसंगों में वर्णन किया है, परन्तु माधव ने इनका वर्णन स्वतन्त्र अध्याय में किया है। शीतपित्तोदर्दकोठ का भी इन्होंने स्वतन्त्र अध्याय में वर्णन किया है। आचार्य माधव ने स्त्रीरोग का वर्णन छः आध्यायों में किया है। जैसे असृग्दर, सूतिकारोग, स्तनरोग आदि। शल्यचिकित्सा के अतरिक्त शल्य, शालाक्य, बालरोग, प्रसूति-स्त्रीरोग विषरोग आदि का भी वर्णन किया गया है। माधवनिदान ग्रन्थ का हिन्दी के अतरिक्त विदेशी भाषाओं में भी अनुवाद प्राप्त होता है। विजरक्षित द्वारा मधुकोष, वाचस्पति द्वारा आतकदर्पण की टीकायें प्रसिद्ध हैं। माधवनिदान में प्रत्येक रोग का निदान होने के कारण यह सभी चिकित्सकों के लिए एक उपादेय और महनीय ग्रन्थ है।

2.3.8 आचार्य शार्ङ्गधर – शार्ङ्गधरसंहिता

आचार्य शार्ङ्गधरके पिता का नाम दामोदर था। भगवान शिव की पूजा का विधान कई स्थलों पर होने से यह शैव भक्त प्रतीत होते हैं। आचार्य शार्ङ्गधर के ग्रंथों में इनके समय के बारे में कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता। कुछ साक्ष्यों के आधार पर अनुमान लगाया जा सकता है। वोपदेव ने १४ वीं शती में शार्ङ्गधरसंहिता पर टीका लिखी है। नाडीविज्ञान, अफीम, रसौषधियों की प्रमुखता का समावेश उस काल के आयुर्वेदीय ग्रन्थों में प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ की शैली सोढल १२ वीं शती कृत गदनिग्रह पर आधारित है। इसलिए इनका समय १३ वीं शती पूर्वार्ध माना जा सकता है। शार्ङ्गधरसंहिता में ३२ अध्याय और २६०० श्लोक हैं। इसमें तीन खण्ड हैं। पूर्वखण्ड में ७ अध्याय हैं, मध्यखण्ड में १२ अध्याय हैं और उत्तरखण्ड में १३ अध्याय हैं। शार्ङ्गधरसंहिता मध्यकाल की एकमात्र संहिता है। जो तत्कालीन प्रवृत्तियों एवं विचारों का प्रतिनिधित्व करती है। मध्यकालीन लघुत्रयी में शार्ङ्गधरसंहिता का नाम आदर से लिया जाता है। इसमें ऋतुओं का विभाजन राशि भेद से है जैसे ग्रीष्म मेष-वृष आदि। नाडीपरीक्षा का वर्णन सर्वप्रथम शार्ङ्गधरसंहिता में प्राप्त होता है। रोगों का वर्गीकरण ग्रन्थ में विस्तार से किया गया है। कुछ रोगों के लिए विशिष्ट औषधियों तथा औषध योगों का वर्णन किया गया है। रस, भस्मों और रसौषधियों का वर्णन किया गया है। आचार्य शार्ङ्गधरने विशेषतः अपने पूर्ववर्ती आचार्यो के आधार पर अपनी संहिता की रचना की है। शार्ङ्गधरसंहिता पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं – शार्ङ्गधरशारीर टीका, आढमल्लकृत दीपिका टीका, काशिराम कृत गूढ़ार्थदीपिका, रुद्रभट

कृत आयुर्वेददीपिका । शार्ङ्गधरसंहिता का हिन्दी, गुजराती, मराठी एवं बंगला भाषाओं में अनुवाद हुआ है।

2.3.9 आचार्य भावमिश्र - भावप्रकाश

आचार्य भावमिश्र कृत भावप्रकाश लघुत्रयी का अन्तिम और महत्वपूर्ण ग्रन्थ है । यह वैद्य समुदाय का लोकप्रिय ग्रन्थ है । इन्होंने ग्रन्थ के प्रारम्भ में अपना परिचय दिया है । **'इति लटकनतनश्रीमन्मिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे'** इससे पता चलता है कि इनके पिता का नाम लटकन था । मिश्र उपाधि तथा विप्र आदि शब्दों के प्रयोग से उनका ब्राह्मण होने का पता चलता है । कतिपय विद्वान इन्हें वाराणसी या कान्यकुब्ज का मानते हैं । भावमिश्र के शैव होने का संकेत कई स्थानों पर प्राप्त होता है । इनका समय विद्वानों ने १५ वीं और १७ वीं शती के बीच अर्थात १६ वीं शती माना है । व्याकरण में भट्टोजिदीक्षित और साहित्य में पण्डित जगन्नाथ का जो स्थान है वही भावमिश्र का आयुर्वेद में है । भावमिश्र की प्रमुख कृति भावप्रकाश है । इसके अतरिक्त एक रचना 'गुणरत्नमाला' का भी नाम दृष्टिगोचर होता है । जिस पर भावप्रकाश का निघण्टुभाग आधारित है । भावप्रकाश ग्रन्थ तीन खण्डों में विभक्त है । पूर्वखण्ड, मध्यखण्ड और उत्तरखण्ड ।

1. पूर्वखण्ड- के दो भाग हैं । प्रथम भाग- इसमें आयुर्वेदावतरण से प्रारम्भ करके सृष्टिप्रकरण, गर्भप्रकरण, बालप्रकरण, दिन-ऋतुचर्या प्रकरण तथा मिश्र प्रकरण का वर्णन है । द्वितीय भाग में मान परिभाषा, भैषजविज्ञान धात्वादि शोधनमारणविधि और रोगपरीक्षा प्रकरण है ।

2. मध्यखण्ड- में चार भाग हैं ।

प्रथम भाग में ज्वर से संग्रहणी तक का वर्णन है, द्वितीय भाग मेंअर्श से वातरक्त तक का वर्णन है,तृतीय भाग मेंशूल से भग्न तक का वर्णन है, औरचतुर्थ भाग में नाडीव्रण से बालरोग तक का वर्णन है ।

मध्यखण्ड में ७१ आध्यायों में चिकित्सा का वर्णन है ।

3. उत्तरखण्ड- में केवल वाजीकरण और रसायन का वर्णन प्राप्त होता है ।

आचार्य भावमिश्र ने आयुर्वेद के विभन्न क्षेत्रों में महत्वपूर्ण योगदान दिया है । भावप्रकाश ग्रन्थ में रसौषधियों का अत्यधिक प्रयोग प्राप्त होता है । प्रयोग में आने वाली औषधियों के विषय पर इसमें प्रकाश डाला गया है । भावप्रकाश पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं, परन्तु शालिग्राम कृत बम्बई के वेंकटेश्वर प्रेस से 'भावप्रकाश' की हिन्दी टीका १९०६ में प्रकाशित हुई है ।

2.3.10 आचार्य चक्रपाणिदत्त - आयुर्वेद दीपिका

आचार्य चक्रपाणि का समय लगभग १० वीं शताब्दी के आसपास माना जाता है ।इनका जन्मस्थल मयूरेश्वर गाँव था, जो पश्चिम बंगाल में है । यह एक ब्रह्मण परिवार से थेऔर कुलीन वैद्य भी थे । इनके पिता का नाम नारायण था । इन्होंने चरक संहिता पर 'आयुर्वेद दीपिका' लिखी और सुश्रुत संहिता पर 'भानुमती' व्याख्या लिखी । इसी कारण इनको 'चरक चतुरानन' और 'सुश्रुतसहस्रनयन' उपाधियों से विभूषित किया गया । इन्होंने चिकित्सासंग्रह और द्रव्यगुणसंग्रह नामक ग्रन्थों की भी रचना की थी ।आयुर्वेद में चक्रपाणि दत्त का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

2.11 सारांश

प्रिय विद्यार्थियों !

प्रस्तुत इकाई में आपने आयुर्वेद के प्रमुख आचार्यों एवं उनके ग्रंथों का भली-भाँति अध्ययन किया । आयुर्वेद विश्व की प्राचीनतम चिकित्सा पद्धति तथा भारत की अमूल्य सांस्कृतिक धरोहर है ।वेदों से आयुर्वेद का अवतरण हुआ है, और इसे अथर्वेद का उपवेद कहा जाता है । आचार्य चरक ने आयुर्वेद को अनादि माना है। उनके कथनानुसार ब्रह्मा से आयुर्वेद का ज्ञान दक्ष प्रजापति ने प्राप्त किया, प्रजापति से अश्वनी कुमारों ने और उनसे इन्द्र ने उस ज्ञान को ग्रहण किया, इन्द्र से वह भरद्वाज ने ग्रहण किया, भरद्वाज ने उस ज्ञान का उपदेश अपने शिष्यों को दिया, और शिष्यों ने संहिताओं का निर्माण किया। ब्रह्मा के आयुर्वेद के प्रादुर्भाव का आख्यान यह संकेत करता है कि आयुर्वेद सृष्टि के आदि काल से ही विद्यमान है। संसार के समस्त प्राणी चाहते हैं कि वह सुखमय दीर्घ जीवन जीए। सभी शास्त्र मनुष्य को त्रिविध दुखों से निवृत्ति का मार्ग तो बताते हैं, परंतु उनमें बताए गए नियमों का पालन करने के लिए उत्तम स्वास्थ्य और आरोग्यता आवश्यक है। आयुर्वेद स्वास्थ्य संरक्षण और रोगमुक्ति का शास्त्र है। अतः यह मानव के लिएसर्वाधिक उपयोगी एवं महत्वपूर्ण शास्त्र है। गुरु शिष्य परम्परा के माध्यम से आयुर्वेद का प्रचार-प्रसार कई वर्षों से इस धरा पर होता आ रहा है। चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट आदि आचार्यों ने अपनी-अपनी संहिताओं की रचना करके आयुर्वेद के ज्ञान को जन कल्याण के लिए प्रसारित किया।

2.12पारिभाषिक शब्दावली

- आयुर्वेद - आयु का ज्ञान
- नित्य - अविनाशी
- अनादि - जिसका आरम्भ न हो (नित्य)
- बृहत्त्रयी - विस्तृत रूप में लिखी गई तीन संहिताएं
- लघुत्रयी - संक्षिप्त रूप में लिखी गई तीन संहिताएं
- व्याधि - दुख
- साध्य - जिसका उपाय सम्भव हो
- कायचिकित्सा - शरीर चिकित्सा
- शल्यचिकित्सा - अंगों को काटना, चीड़-फाड़ (ऑपरेशन)
- आहार - भोजन
- विहार - घूमना
- विकृत - विकार, दोष
- विद्यमान - अस्तित्व में होनेवाला
- निवृति - मुक्त
- संहिता - संग्रह
- ज्वर - बुखार

अभ्यास प्रश्न 1

(1) निम्नलिखित प्रश्नों के उचित विकल्प का चयन कीजिए।

1. आचार्य चक्रपाणि के पिता का नाम क्या था ?
   (क) नारायण (ख) शिवनारायण
   (ग) चक्रधर (घ) अश्वनी
2. आचार्य चरक का समय माना जाता है।
   (क) ६०० से ७०० ई.पू० (ख) ५०० से ६०० ई.पू०
   (ग) ३०० से २०० ई.पू० (घ) ८०० से ९०० ई.पू०
3. भावप्रकाश ग्रन्थ के लेखक हैं।
   (क) चरक (ख) शिवनारायण
   (ग) वाग्भट्ट (घ) भावमिश्र
4. महर्षि भरद्वाज को आयुर्वेद का ज्ञान किसने दिया ?
   (क) ब्रह्मा (ख) इन्द्र
   (ग) वाग्भट्ट (घ) अश्वनी कुमार
5. आचार्य माधव ने आयुर्वेद पर ग्रन्थ लिखा है।
   (क) माधवनिदान (ख) माधवकोश
   (ग) माधवसंग्रह (घ) इनमे से कोई नहीं

(2) रिक्तस्थानों की पूर्ति कीजिए।

1. आचार्य शार्ङ्गधर के पिता का नाम -------- था।
2. आचार्य वाग्भट का काल लगभग --------- शती के आस-पास माना जाता है।
3. आयुर्वेद --------- के उपवेद के रूप में प्रसिद्ध है।
4. आयुर्वेद को ------ सम्प्रदायों में विभाजित किया गया है।
5. भावप्रकाश ग्रन्थ -------- खण्डों में विभक्त है।

(3) सही गलत का चयन कीजिए।

1. आचार्य चक्रपाणि का समय लगभग १० वीं के आसपास माना जाता है।( )
2. ब्रह्मा से आयुर्वेद का ज्ञान दक्षप्रजापति ने प्राप्त किया, दक्ष प्रजापति से अश्विनी कुमारों ने और उनसे इन्द्र ने प्राप्त किया।( )
3. वोपदेव ने ११ वीं शती में शार्ङ्गधरसंहिता पर टीका लिखी है।( )
4. आचार्य चरक ने आयुर्वेद को शाश्वत नहीं माना है।( )
5. आचार्य आत्रेय और आचार्य धान्वन्तर सम्प्रदाय के आचार्यों ने आयुर्वेद के समस्त विषयों का संकलन संहिता के रूप में किया है।( )

2.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.क, ग, घ, ख, क
2. दामोदर, पाँचवीं, अथर्ववेद, तीन, तीन
3. सही, सही, गलत, गलत, सही

2.14 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. आयुर्वेद-परिचय एवं आधारभूत सिद्धान्त।
2. आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास।
3. आयुर्वेद का दर्शन क्रिया शरीर एवं स्वस्थ वृत्त।

4. आयुर्वेद उपचार के सिद्धान्तों का परिचय।
5. आयुर्वेद मंथन।
6. चरक संहिता।
7. सुश्रुतसंहिता।

2.15 निबन्धात्मक प्रश्न

1. आयुर्वेद का परिचय लिखिए।
2. आयुर्वेद की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
3. आचार्य चरक एवं उनके ग्रन्थ चरकसंहिता पर प्रकाश डालिए।

ईकाई–3 स्वास्थ्य की अवधारणा

3.1 प्रस्तावना
3.2 अधिगम उद्देश्य
3.3 स्वस्थकी परिभाषा
3.3.1 आयुर्वेद के अनुसार स्वस्थ की परिभाषा
3.3.2 विश्व स्वास्थ्य संगठन (world health organization) के अनुसार स्वस्थ की परिभाषा
3.3.3 स्वस्थ जीवन हेतु आयुर्वेदीयनिर्देश
3.4 सारांश
3.5 पारिभाषिक शब्दावली
3.6 अभ्यास प्रश्न
3.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

3.1 प्रस्तावना

'धर्मार्थकाममोक्षाणां आरोग्यं मूलमूत्तमम्' (च. सू. 1) धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष, ये चारों मानव जीवन का परम लक्ष्य माना गया है। इन चतुर्विध पुरुषार्थों की प्राप्ति स्वस्थ शरीर के बिना असम्भव है। अतः आरोग्य को ही आचार्यों ने पुरुषार्थ चतुष्टय का मूल स्वीकार किया है। सम्भवतः इसीलिए एषणा त्रय (प्राणैषणा, धनैषणा, परलोकेषणा) में भी प्राणैषणा पुरा काल से ही बलवती रही है। ऋग्वेद में उद्धृत 'जीवेमः शरदं शतम्' अर्थात् सौ वर्ष तक पूर्ण स्वस्थ जीवन की अवधारणा भी इसी मन्तव्य को स्पष्ट करती है।सामान्य विमर्श में भी उद्देश्यपूर्ण जीवन जीने के लिए अच्छा स्वास्थ्य अति आवश्यक माना गया है। स्वस्थ मनुष्य ही एक व्यक्ति के रूप में, समाज के रूप में तथा राष्ट्र के रूप में अपनी क्षमता का सर्वोत्तम उपयोग कर सकता है।

शाब्दिक दृष्टि से देखा जाये तो 'स्वस्थ' शब्द संस्कृत के 'स्व' एवं 'स्थ' दो शब्दों से मिलकर बना है। जिनमें 'स्व' से अभिप्राय है स्वयं में अथवा अपने प्राकृत मूल स्वरूप में एवं 'स्थ' से अभिप्राय है स्थित होना। इस प्रकार शरीर का प्राकृत अवस्था अर्थात् रोग एवं पीड़ा रहित प्रसन्न एवं ऊर्जावान स्थिति में होना ही स्वस्थ को परिभाषित करता है।

स्वस्थ की महत्ता सर्वोपरि होने के कारण स्वास्थ्य सम्बन्धी विवेचन सर्वत्र प्राप्त होता है। प्रत्येक विमर्श में स्वस्थ को विभिन्न रीतियों से परिभाषित करते हुए स्वस्थ रहने के लिए आदर्श जीवन शैली, पौष्टिक आहार एवं सकारात्मक दृष्टिकोण आवश्यक माना गया है। संक्षेप में कहें तो संतुलित आहार, पर्याप्त श्रम (व्यायाम) एवं विश्राम (निद्रा) और सकारात्मक जीवन शैली स्वस्थ जीवन के सोपान है।

3.2 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय को पढ़ने के पश्चात् आप सक्षम होंगे–

- आनन्दित जीवन में स्वास्थ्य की उपादेयता
- विभिन्न आचार्यों के अनुसार स्वस्थ की परिभाषा
- स्वास्थ्य के विभिन्न सोपान – शरीर, मन, आत्मा एवं इन्द्रियाँ
- स्वस्थ जीवन हेतु आयुर्वेद में वर्णित दिशा निर्देश

3.3 स्वस्थ परिभाषा

3.3.1 आयुर्वेद में वर्णित स्वस्थ की परिभाषा

'आयुषो वेदम्' अर्थात् आयुर्वेद आयु (जीवन) का विज्ञान (Science of life) है। इसे पञ्चम वेद एवं अथर्व वेद का उपवेद भी कहा गया है। यहाँ आयु को व्यापक रूप में परिभाषित किया गया है। आचार्यों ने शरीर (Physical body), इन्द्रिय (Sense organs), सत्व (मन Psychy), एवं आत्मा (Soul or consiousness) के संयोग को ही आयु कहा है। यहाँ यह समझना प्रासंगिक है कि उक्त शरीरादि चारों जीवन के अंग है तथा अन्योन्याश्रित है। इन सभी के संयोग से ही जीवन सम्भव है। य।पि प्रकृति (स्वास्थ्य) एवं विकृति (रोग), ये दोनों ही आयुर्वेद के विवेच्य विषय हैं।तथापि 'स्वस्थस्य स्वास्थ्य रक्षणं आतुरस्य विकार प्रशमनम्'' स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा एवं उसके शारीरिक, मानसिक, ऐन्द्रिक एवं आत्मिक गुणों में अभिवृद्धि ही आयुर्वेद का प्रथम उद्देश्य है। स्वस्थ जीवन की प्रतिष्ठापना ही आयुर्वेद का ध्येय है।

स्वस्थ को परिभाषित करते हुए आचार्य सुश्रुत ने लिखा है–

समदोषः समाग्निश्च समधातु मलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रिय मनः स्वस्थ इत्यभिधीयते (सु.स.सू./15)

दोष, अग्नि, धातु एवं मल निष्पादन की क्रिया आदि का सम्यक प्रकार से होना एवं मन–आत्मा एवं इन्द्रियों का प्रसन्न (मल रहित) होना ही स्वास्थ्य है।

यह परिभाषा अति व्यापक है। यदि यह कहा जाये कि आयुर्वेद के महत्वपूर्ण

प्रतिपा। विषय इसमें समाहित हैं, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।अतः उक्त त्रिदोषादि सभी विषयों का पृथकशः निम्न प्रकार से विवेचन किया जा रहा है–

(1) दोषः–

(i) **शारीरिक दोषः–**शरीर में वात, पित्त, कफ सभी शारीरिक क्रिया कलापों का सम्पादन करते हैं। शरीर को धारण करने से इन्हें धातु भी कहा गया है। परन्तु मिथ्या आहार एवं विहार के कारण ये दूषित होकर विभिन्न रोगों को उत्पन्न करने लगते हैं, ऐसी अवस्था में इन्हें शारीरिक दोष संज्ञा से जाना जाता है।

(ii) **मानसिक दोषः–**सत्व, रज, औरतम, ये मन के तीन गुण हैं। इनमें से सत्व सम अवस्था की स्थिति है। रज और तम कोदूषित करने के स्वभाव के कारण मानस दोष कहे जाते हैं इन मानस दोषों की समावस्था मानसिक स्वास्थ्य का आधार है और इन्हीं की विषमता मानसिक रूग्णता तथा मानस रोगों का कारण होती है।

(iii) **अग्निः–**आयुर्वेद मतानुसार शरीर में कुल 13 अग्नियाँ होती हैं। आकाश आदि पाँच महाभूतों की पाँच भूताग्नियाँ एवं रस आदि सात धातुओं की सात धात्वग्नियाँ होती है, एक पाचकाग्नि होती हैं। जिसे जाठराग्नि भी कहा जाता है। इसी से सभी अग्नियों का पोषण होता है। इन तेंरह अग्नियों के संयुक्त रूप से कार्यकारी होने पर शरीर की समस्त चयाचय क्रियाएँ (Matabolicfunctions) सम्पादित होती है।

(iv) **धातु–**रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा एवं शुक्र, ये सात धातु माने गये हैं। त्रिदोषों के सम अवस्था में होने पर ये ही शरीर का धारण करते हैं। अतः धातु कहलाते हैं।

(v) **मलः–**स्वेद, मूत्र एवं पुरीष, ये तीन मल माने गये हैं। इनका यथा समय शरीर से निष्कासन आवश्यक है। अन्यथा इनकी शरीर में अधिक समय तक उपस्थिति रोगोत्पादक हो जाती है।

(vi) **इन्द्रियाँः**–चक्षु, (आँख), घ्राण (नाक) कर्ण (कान), रसना (जीभ) एवं त्वचा। ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ मानी गई है। हस्तद्वय (दो हाथ) पाद द्वय (दो पैर) एवं एक जननेन्द्रिय (शिश्न अथवा योनि), ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ मानी गई है।

(vii) **मनः–**ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय दोनों में इसकी गणना होने से इसे उभयेन्द्रिय भी माना जाता है। अणुत्व एवं एकत्व मन के दो गुण बताये गये हैं। इन्द्रियों एवं इन्द्रियार्थ (शब्द–स्पर्श–रूप–रस–गंध) का संयोग मन की उपस्थिति में होने पर ही ज्ञान की प्रक्रिया सम्पादित होती है। अतः समस्त प्रकार के ज्ञान प्रक्रिया में मन की महति भूमिका होती है।

(viii) **आत्माः–**आत्मा ही शरीर में चेतना का कारण है। आचार्य सुश्रुत ने हृदय को चेतना का स्थान बताया है।

आचार्य कश्यप के अनुसार स्वस्थ (आरोग्य) की परिभाषाः–

अन्नाभिलाषों भुक्तस्य परिपाकः सुखेन च।
सृष्ट विण्मूत्र वातत्वं शरीरस्य च लाघवम्।।
सुप्रसन्नेन्द्रियत्वं च सुख स्वप्न प्रबोधनम्।
बल वर्णायुषां लाभः सौमनस्य समाग्निता।

वि।ादारोग्य लिंगानि.....।। (का.सं. खिलस्थान 5/6–8)

काश्यप संहिता के अनुसार स्वस्थ (आरोग्य) के लक्षण निम्न प्रकार हैं–

(i) अन्नाभिलाषो – आहार ग्रहण करने की इच्छा अर्थात् जिसकी भूख अच्छी हो।
(ii) भुक्तस्य परिपाक सुखेन – ग्रहित अन्न का पाचन सुखपूर्वक होता हो
(iii) सृष्ट विण्मूत्र वातत्व – पुरीष–मूत्र एवं अपान वायु का उचित निष्कासन होता हो।
(iv) शरीरस्य च लाघवम् – शरीर में हल्कापन अनुभव होता हो।
(v) सुप्रसन्न इन्द्रियत्वंम् – ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ मलरहित हों एवं स्वकार्य

सम्पादन में पूर्णतः सक्षम हो।
(vi) सुख स्वप्न प्रबोधनम् –सुखपूर्वक शयन एवं जागरण की प्रवृत्ति हो
(vii) बलवर्णायुषां लाभ – बल, वर्ण एवं आयु की यथोचित वृद्धि हो
(viii) सौमनस्यं – मन प्रसन्न हो
(ix) समाग्निता– जठराग्नि (पाचन) सम्यक हो
उक्त दोनों ही परिभाषाओं में व्यक्तिपरक एवं वस्तुपरक मानकों (Subjective & objective parameters) के आधार पर शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य को बहुत सुन्दर रीति से प्रतिपादित किया है।

3.3.2 विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) के अनुसार स्वस्थ की परिभाषा

विश्वस्वास्थ्य संगठन ने 1948 में स्वस्थ को निम्न रूप में परिभाषित किया है। "Health is a state of complete physical, mental and social well being and not merely the absence of diseases or infirmity."''स्वास्थ्य रोग या दुर्बलता की अनुपस्थिति ही नहीं है अपितु पूर्णतः शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक सौख्य की स्थिति है।''
सन् 2009 में शोधकर्त्ताओं ने प्रसिद्ध मेडिकल जर्नल 'लान्सेट' में स्वास्थ्य को निम्न प्रकार परिभाषित किया है–
"Health in a ability of abody to adapt to new threats and infirmition." ''नवीन चुनौतियों एवं दुर्बलताओं को अनुकूल बनाने की शारीरिक क्षमता का नाम स्वास्थ्य है।
य|पि उक्त परिभाषा में शरीर की रोगप्रतिरोध क्षमता को स्वास्थ्य का मानक माना गया है। तथापि विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा प्रतिपादित परिभाषा ही अ|तन आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में मान्य है।

3.3.3 स्वस्थ्य जीवन हेतु आयुर्वेदीय निर्देश

जैसा कि आप सभी भली भाँति जानते हैं, आयुर्वेद का प्रथम उद्देश्य स्वस्थ मानव के स्वास्थ्य की रक्षा है। अहितकर आहार–विहार के सेवन से व्यक्ति रोगग्रस्त होने पर औषध द्वारा यथोचित चिकित्सा उपलब्ध कराना, द्वितीय उद्देश्य है।
'त्रयउपस्तम्भ'–स्वस्थ जीवन के लिए आचार्यों ने आहार, निद्रा एवं ब्रह्मचर्य को महत्त्वपूर्ण माना है। इन्हें आयुर्वेद में 'त्रय उपस्तम्भ' संज्ञा दी गई है। वात, पित्त एवं कफ हमारे जीवन के आधार है, जिन्हें 'त्रिस्तम्भ' कहा गया है। इन वातादि दोषों की साम्यावस्था बनाये रखने में आहार की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। आहार ही हमारी ऊर्जा, वर्ण (Complexion) पाचन प्रणाली एवं रोग प्रतिरोध क्षमता का आधार हैं। यथा 'आहारं पुनर्मूलं बल वर्ण अग्नि ओजसाम्'।
आहार के विषय में विस्तार भय से संक्षेप में कहा जाय तो 'हितभुक–मित भुक–ऋत भुक' का पालन करना चाहिए। मित्भुक अर्थात् शरीर की पाचन शक्ति को दृष्टिगत रखते हुये मात्रावत् अर्थात् भूख से कुछ कम भोजन ग्रहण करने का निर्देश आचार्यों ने दिया है। भोजन की अधिक मात्रा एवं अल्प मात्रा दोनों ही कुपोषण का कारण होती है।
'हित भुक' से आशय है कि शारीरिक मानसिक बल बनाये रखने के लिए सदैव 'हितकर आहार' का ही ग्रहण करना चाहिए।
हितकर आहार– धान्य में जौ, गेहू, चावल, सब्जियों में घीया, परवल, आँवला, हरड़, पालक, शाक (हरी सब्जियाँ) में बथुआ, मैथी, फलों में द्राक्षा, अनार खजूर, द्रवपदार्थों में दूध, घी हितकर आहार माने गये हैं। जो शारीरिक पोषण के साथ–साथ हमारे मन को भी ऊर्जा प्रदान करते हैं अतः इन्हें नित्य सेवन का निर्देश किया गया है।
'ऋत भुक' से अभिप्राय है, आहार का चयन ऋतु के अनुसार होना चाहिए क्योंकि ऋतु के अनुसार दोषों की स्थिति एवं प्राथमिकताएँ परिवर्तित होती है। यथा शीत ऋतु (हेमन्त शिशिर) में हमारी पाचन शक्ति प्रबल होने से अधिक पौष्टिक आहार जैसे पदार्थ बादाम, अखरोट, हलुआ, विभिन्न प्रकार के लड्डू एवं पाक तथा शरीर को उष्णता प्रदान करने हेतु केशर एवं विविध प्रकार के सूप आदि उपेक्षित है जबकि ग्रीष्म ऋतु में

पाचनशक्ति अल्प होने के कारण फल एवं फलों का रस, शीतलजल, चिकनाई रहित भूने (Roasted) हुये खा। पदार्थ जैसे चना–जौ आदि के सत्तू अपेक्षाकृत अधिक लाभप्रद हैं। विस्तार से सम्बन्धित अध्याय में वर्णन किया जायेगा।

निद्रा– शरीर–मन एवं इन्द्रियों के स्वाभाविक विश्राम की सम्यक अवस्था है जो स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। निद्रा को आचार्य चरक ने सुख, पुष्टि, बल, वृषता, ज्ञान एवं जीवन देने वाला जबकि इसके विपरीत असम्यक (अनिद्रा, अल्पनिद्रा, अति निद्रा) निद्रा को दुख, कार्श्य, दौर्बल्य (ऊर्जा का अभाव), नपुंसकता, अज्ञान (स्मृतिनाश) एवं अनेकानेक रोगों का कारण बताया है।दिवाशयन कफ प्रकोप एवं रात्री जागरण वात प्रकोप कारक होने से रोगोत्पादक मानी गई है अतः इनका त्याग करके रात्री में पर्याप्त निद्रा लेनी चाहिए। सुखद निद्रा के लिए आचार्य योगरत्नाकर का परामर्श है कि सायंकाल भोजन के बाद सोने से पूर्व 100 कदम चलने के बाद सुखद शय्या पर नियम पूर्वक विश्राम करें। आचार्य चरक के अनुसार गहरी निद्रा के लिए तलुवे में तेल की मालिश अतीव लाभप्रद है।

आचार्य चरक ने **ब्रह्मचर्य** को स्वस्थ जीवन हेतु तृतीय उपस्तम्भ माना है। आचार्य वाग्भट ने इसके स्थान पर अब्रह्मचर्य शब्द का प्रयोग किया है। यहाँ आचार्यों का अभिप्राय अनुशासित वैवाहिक जीवन से ही है।

दिनचर्या–स्वस्थ रहने के लिए उपर्युक्त उपस्तम्भ के अतिरिक्त स्वस्थवृत्त के अनेकानेक सोपान निर्देशित है, जो स्वास्थ्य के संरक्षण एवं संवर्धन में महत्त्वपूर्ण है। ब्रह्ममुहूर्त में निद्रा त्याग, प्रातः जलपान, व्यायाम, अभ्यंग उद्वर्तन (उबटन) अञ्जन एवं स्नान आदि दिनचर्या के महत्वपूर्ण अंग है।

रसायन सेवन–आँवला, हरड, गिलोय, ब्राह्मी, शंखपुष्पी, मुलेठी, च्यवनप्राश एवं ब्रह्म रसायन आदि रसायन औषधियों का नियमित सेवन भी स्वस्थ रहने के लिए आवश्यक है। ये शरीर एवं मन को पोषण देने के साथ साथ विषाक्त तत्वों को शरीर से निष्कासित करते हुए जीवन को रोग रहित एवं ऊर्जावान बनाते हैं।

ऋतु के अनुसार शोधन (Detoxification)–शरद, बसन्त एवं वर्षा ऋतु में क्रमशः पित्त, कफ एवं वात का स्वाभाविक प्रकोप एवं तदजन्य रोग उत्पन्न होते हैं। अतः ऋतु जन्य व्याधियों से बचाव हेतु इन ऋतुओं के प्रारम्भ में क्रमशः विरेचन, वमन एवं बस्ति का प्रयोग आचार्यों ने निर्दिष्ट किया है। जिसे ऋतु संशोधन भी कहा जाता है।

ऋतु हरीतकी–आचार्य भावप्रकाश निर्दिष्ट ऋतु हरीतकी भी शारीरिक संशोधन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। आचार्य के अनुसार हरीतकी (हरड़) का प्रयोग शरद ऋतु में शर्करा, बसन्त ऋतु में मधु, ग्रीष्म ऋतु में गुड़, वर्षा ऋतु में सैंधानमक, हेमन्त ऋतु में सौंठ एवं शिशिर ऋतु में पिप्पली के साथ गरम पानी से करना चाहिए। यह रसायन प्रयोग आंत्र शोधन के साथ–साथ जठराग्नि की सम अवस्था को व्यवस्थित करती है। जो स्वस्थ जीवन के लिए महती आवश्यक है। आचार्य चरक ने निरोगी जीवन के सूत्रों की अभिव्यक्ति च. शा. स्थान में निम्न प्रकार से की है–

> नरो हिताहार विहार सेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वशक्तः।
> दाता समः सत्यपरो क्षमावान् आप्तोपसेवी च भवति अरोगः।। (च.शा. 2/46)

जो व्यक्ति हितकर आहार एवं विहार का सेवन करता है, जो जीवन के क्रियाकलापों एवं घटनाओं की समीक्षा (Analysis) करने में प्रवीण हो अर्थात् सकारात्मक दृष्टिकोण वाला हो, भौतिक सुखों की आकांक्षा से रहित हो, जो त्याग प्रवृत्ति वाला हो, सुख–दुख सभी परिस्थितियों में सम रहता हो, सत्यवादी हो, क्षमाशील हो एवं आप्तपुरुषों (श्रेष्ठ लोगों) की सेवा में निरन्तर क्रियाशील रहता हो, वह रोगों से मुक्त रहता है।

सारांशः–स्वस्थ जीवन की अभिलाषा मानव की प्रारम्भिक काल से ही रही है। उसी के परिणाम स्वरूप स्वास्थ्य एवं चिकित्सा की विभिन्न पद्धतियाँ विकसित हुई है। रोगों से मुक्त होना ही नहीं अपितु शारीर, मानसिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से सुखद स्थिति ही स्वास्थ्य का परिचायक है। सामान्यतः संतुलित आहार, नियमित दिनचर्या,

पर्याप्त निद्रा, व्यायाम, सकारात्मक सोच एवं आर्थिक दृष्टि से समृद्धि स्वस्थ जीवन के लिए महत्वपूर्ण उपादान है।

आयुर्वेद एक प्राचीन चिकित्सा विज्ञान है।यहाँ स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा पर विशेष बल दिया गया है। यहाँ शरीर, मन, इन्द्रियाँ एवं आत्मा के संयोग को आयु अर्थात् जीवन माना गया है। भौतिक शरीर के साथ–साथ आत्मा एवं मन को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। स्वस्थ जीवन शैली, हितकर आहार एवं संयमित जीवन स्वास्थ्य के सोपान बताये हैं। ब्रह्म मुहुर्त में जागरण, 'उषापान (प्रातः जलसेवन), व्यायाम, अभ्यंग, उबटन, स्नान, ध्यान एवं रात्रि में गहरी निद्रा उत्तम स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। चयापचय क्रिया के दौरान उत्पन्न विषाक्त द्रव्यों का नियमित निष्कासन एवं रसायन सेवन जीवन शैली जन्य रोगों से बचाव के लिए अत्यावश्यक है। हरड़, आँवला, गिलोय, ब्राह्मी आदि रसायन द्रव्यों का नियमित सेवन हमें निरोगी एवं ऊर्जावान रखने में महत्वपूर्ण भूमिका रखते है।

3.5 पारिभाषिक शब्दावली

त्रिदोष	–	वात, पित्त, कफ
मल	–	स्वेद–मल पुरीष
रसायन	–	जो द्रव्यसेवन करने पर धातुओं की वृद्धि करे
आयु	–	जीवन (शरीर, इन्द्रियाँ, मन एवं आत्मा का सम्मिलित रूप)
निष्कासन	–	शरीर से बाहर निर्गमन
सत्व	–	मन
आत्मा	–	चेतना
इन्द्रियाँ	–	ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ
अग्नि	–	आहार पाचन में सहायक
प्रसन्न	–	मल रहित
प्रकृति	–	निरोग
विकृति	–	रोग युक्त
परिपाक	–	सम्यक पाचन
सृष्ट	–	निष्कासन
लाघव	–	हल्कापन
स्वप्न	–	निद्रा
प्रबोधन	–	निद्रा त्याग
सौमनस्य	–	मन का प्रसन्न होना

समाग्निता	–	जठराग्नि का सम्यक होना
भुक	–	भक्षण करना
मित	–	अल्प
स्तम्भ	–	आधार
उपस्तम्भ	–	सहायक आधार
समीक्ष्यकारी	–	समीक्षा (Analysis) करने में निपुण
विषय	–	भौतिक सुख
सम	–	समस्थिति में रहने वाला (स्थित प्रज्ञ)
सत्यपरो	–	सत्यवादी
आप्त	–	निर्लिप्त सुधी जन
अरोग	–	निरोगी

3.6 अभ्यास प्रश्न

(1) आचार्य सुश्रुत के अनुसार स्वस्थ की क्या परिभाषा है?
(2) विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार स्वस्थ को परिभाषित कीजिए।
(3) आयुर्वेद में त्रिदोष किसे कहते हैं?
(4) सप्त धातुओं का नामतः उल्लेख कीजिए।
(5) मन को ऊर्जावान बनाने वाले आहार द्रव्यों का नामतः उल्लेख कीजिए।

अभ्यास प्रश्न एवं उत्तर

(1) आचार्य सुश्रुत के अनुसार स्वस्थ की क्या परिभाषा है?

उत्तर दोष (वात–पित्त–कफ एवं रज–तम), अग्नि (जठराग्नि, धात्वग्नि एवं भूताग्नि) एवं धातुओं (रस–रक्त–मांस–मेद–अस्थि–मज्जा–शुक्र आदि) का सम्यक प्रमाण में होना, मल (स्वेद, मूत्र एवं पुरीष) का शरीर से यथा समय निष्कासन एवं मन–आत्मा एवं इन्द्रियों का मल रहित होना स्वस्थ का लक्षण है।

(2) विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार स्वस्थ को परिभाषित कीजिए।

उत्तर स्वास्थ्य से अभिप्राय मात्र रोगों से रहित होना ही नहीं है अपितु शारीरिक–मानसिक एवं सामाजिक दृष्टि से पूर्ण सौख्य की स्थिति है।

(3) आयुर्वेद में त्रिदोष किसे कहते हैं?

उत्तर वात, पित्त एवं कफ अनुचित आहार एवं विहार का सेवन करने पर दूषित होकर रोगों को उत्पन्न करने लगते हैं। इसलिए इन्हें त्रिदोष कहा गया है।

(4) सप्त धातुओं का नामतः उल्लेख कीजिए।

उत्तर रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा एवं शुक शरीर को धारण करते हैं। अतः धातु माने गये हैं।

(5) नित्यसेवनीय एवं मन को ऊर्जावान बनाने वाले आहार द्रव्यों का नामतः उल्लेख कीजिए।

उत्तर आयुर्वेद के अनुसार गेहूँ, जौ, चावल, मूंगदाल, बथुआ, परवल, आँवला, हरड़, अनार, द्राक्षा, खर्जूर, गौदुग्ध, गौघृत, शहद आदि हितकर द्रव्य बताये गये हैं। इन सभी का नियमित सेवन करना चाहिए। ये आहार द्रव्य शारीरिक दृष्टि से

पोषण प्रदान करने के साथ–साथ मन को भी ऊर्जावान बनाते हैं।

3.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

1– चरक संहिता पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध
2– सुश्रुत संहिता पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध
3– अष्टांग, संग्रह सूत्रस्थान
4– योगरत्नाकर
5– भावप्रकाश

इकाई. 4 रोगों का अर्थ एवं स्वरूप

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना
4.2 अधिगम उद्देश्य
4.3 रोगों का अर्थ एवं स्वरूप
4.3.1 रोग का अर्थ एवं परिभाषा
4.3.2 रोग के पर्याय
4.3.3 रोगों के कारण एवंरोगोत्पत्ति प्रक्रिया
4.3.4 रोगों का वर्गीकरण
4.4 सारांश
4.5 पारिभाषिक शब्दावली
4.6 अभ्यास प्रश्न
4.7 अभ्यासप्रश्नों के उत्तर
4.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

4.1 प्रस्तावना

जैसा आप भलीभाँति जानते हैं कि भारतीय जीवन पद्धति में मोक्ष की अभिलाषा पुराकाल से ही बलवती रही है। इस हेतु शरीर का पूर्ण स्वस्थ होना प्रथम आवश्यकता मानी गई है। रूग्ण शरीर लौकिक एवं पारलौकिक सर्वविध उन्नयन में बाधक है। किसी भी राष्ट्र की आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक प्रगति में शारीरिक–मानसिक रूप से स्वस्थ एवं दृढ़ लोगों की अहम् भूमिका होती है। इस सार्वभौमिक सत्य को स्वीकार करते हुए सभी देश राष्ट्रीय 'रूग्णदर' (morbidity index) को कम करने एवं खुश सूचकांक (Happy index) को बढ़ाने पर बल दे रहे हैं। राष्ट्रीय स्वास्थ्य सभी सरकारों की प्राथमिकता में है।

4.2 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय के अध्ययन उपरान्त आप अवगत हो कि–

(i) रोग क्या है? आयुर्वेद में रोगों को किस रूप में परिभाषित किया गया है।
(ii) रोगोत्पत्ति प्रक्रिया क्या है?
(iii) रोगों केकितने प्रकार हैं?
(iv) शारीरिक रोग एवं मानसिक रोग क्या है?

4.3 रोग का अर्थ एवं परिभाषा

रोग शब्द की व्युत्पत्ति रूज् धातु में धञ् प्रत्यय लगाने से हुई है। यह धातु पीड़ा कारक अर्थ को इंगित करता है। अतः शरीर या मन को किसी भी रूप में पीड़ा पहुँचाने वाले लक्षण या लक्षण समूह को रोग संज्ञा से संबोधित किया जाता है।

रोग परिभाषा

(i) 'विविधं दुःखमादधाति शरीरे मनसि चेति व्याधिः'
अनेक प्रकार के दुःख जो शरीर एवं मन को कष्ट देते हैं, उसे व्याधि शब्द की संज्ञा दी गई है।

(ii) विकारो धातु वैषम्यं साम्यं प्रकृतिरूच्यते।
सुख संज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च।। (च.स्. 9/4)
धातुओं में विषमता विकार या रोग हैं तथा धातुओं में साम्य होना प्रकृति या आरोग्य है। आरोग्य से सुख प्राप्त होता है जबकि विकार (रोगावस्था) सभी दुःखों का मूल कारण है।
यहाँ ज्ञातव्य है कि जो भाव शरीर का धारण करते हें, वे सभी धातु कहे जाते हैं। अतः यहाँ धातु शब्द से वात, पित्त, कफ त्रिदोष, रस रक्तादि सप्तधातु तथा मल–मूत्र–स्वेदादि मलों का ग्रहण करना चाहिए। इनके निश्चित अनुपात में कमी एवं वृद्धि होना ही धातु वैषम्य है, जो रोगों को उत्पन्न करता है।

(iii) 'अस्मिन् शास्त्रे पंचमहाभूत शरीरि समवायः पुरुषः इत्युच्यते।
तद् दुःख संयोगा व्याधयः इत्युच्यन्ते।' (सु.सू. 1)
आचार्य सुश्रुत के अनुसार प्राणियों की उत्पत्ति पंचमहाभूतो के साथ आत्मा के संयोग होने पर होती है। प्राणियों में किसी भी प्रकार से दुःख से संयोग होने को ही रोग कहा गया है। यह दुःख शारीरिक एवं मानसिक भेद से दो प्रकार का होता है।

4.3.2 रोग के पर्याय

आचार्य चरक (च.नि. 1/5) ने रोग को निम्न संज्ञाओं से संबोधित किया है–

(i) रोगः– 'रुजतीति रोग'– शरीर में रूजा (पीड़ा, दुःख) उत्पन्न करने वाले कारकों को रोग कहा गया है।

(ii) आमयः–प्रायः रोगोत्पत्ति का मूल कारण आहार पाचन की स्वाभाविक प्रक्रिया के दौरान अग्निमां| के कारण उत्पन्न आम होता है। अतः आमजन्य होने से रोग को आमय भी कहा गया है।

(iii) **दुःखः**—व्याधि से शरीर एवं मन में अनेक प्रकार के कष्ट उत्पन्न होते हैं। इसलिए इसको दुःख शब्द से भी सम्बोधित किया गया है।

(iv) **आतंकः**—रोग ग्रस्त होने पर शारीरिक क्रिया कलापों में असामान्य रूप से हलचल पैदा हो जाने से, रोग के लिए आतंक शब्द का भी प्रयोग किया गया है।

(v) **पाप्माः**—अयुक्तियुक्त आहार एवं जीवन शैली पाप सदृश एवं अनेकानेक रोगों का कारण होती है। अतः पाप से उत्पन्न होने से व्याधि को पाप्मा शब्द से भी संबोधित किया गया है।

(vi) **विकारः**—दोषों का समभाव प्रकृति कहा गया है जबकि विषम अवस्था विकृति कही गयी है। वात, पित्त, कफ आदि तीनों दोषों में विषमता होने पर रोगों की उत्पत्ति होती है अतः इन्हें विकार भी कहा गया है।

4.3.3 रोगों के कारण एवं रोगोत्पत्ति प्रक्रिया

जैसा कि आप जान चुके हैं, दोष वैषम्य ही रोग है। वात–पित्त कफ की साम्य अवस्था संतुलित आहार एवं व्यवस्थित जीवन शैली पर निर्भर है। जब आहार एवं दैनिक क्रिया कलापों में विसंगति होती है तो दोषों की वृद्धि या क्षय होने लगता है जिसे दोष प्रकोप के नाम से भी जाना जाता है। प्रकुपित दोष विभिन्न स्रोतों में गतिमान होते हुए रसादि धातुओं को दूषित करते हैं, जब रोगों की उत्पत्ति होती है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को रोग सम्प्राप्ति के नाम से जाना जाता है।

आचार्य विजय रक्षित जी ने व्याधि को परिभाषित करते हुए रोगोत्पत्ति प्रक्रिया को बहुत सुन्दर रीति से संक्षेप में निम्न प्रकार से समझाया है– 'तथा विध दोष दूष्य सम्मूर्च्छना विशेषों ज्वरादि रूपों व्याधिः।'' अर्थात् दोष तथा रसादि दूष्यों का विशेष प्रकार का संयोग होने पर ज्वर आदि रोगों की उत्पत्ति होती है।

4.3.4 रोगों का वर्गीकरण

विभिन्न दृष्टिकोण से रोगों के निम्न भेद किये गये हैं–

(I) **प्रभाव भेद सेः**— रोग दो प्रकार के माने जाते हैं। (च.सू. 10/12–16)

(i) **साध्य रोग (curable disease):**— जो रोग चिकित्सा से ठीक हो जाते हैं। उन्हें साध्य रोग कहते हैं। इन्हें पुनः दो भागों में विभाजित किया है।

(a) **सुख साध्यः**— जो रोग औषध एवं आहार के प्रयोग से सुगमता से ठीक हो जाते हैं। उन्हें सुखसाध्य कहा गया है।

(b) **कृच्छ्र साध्यः**—जो रोग उचित उपचार करने पर भी लम्बी अवधि में कठिनाई से ठीक होते हैं। उन्हें कृच्छ्रसाध्य रोग कहते हैं।

(II) **असाध्य (incurable):**— जो चिकित्सा करने पर भी ठीक नहीं होते हैं। इन्हें असाध्य रोग कहा जाता है। इन्हें पुनः दो प्रकार से विभाजित किया है–

(a) प्रत्याख्येय(irremedial),(b) याप्य(palliable)

(2) **बलभेद सेः**

(i) **मृदु रोगः**— जिन रोगों की उत्पत्ति अल्प कारणों से होती है तथा जिनके पूर्व रूप तथा लक्षण अल्प मात्रा में प्रकट होते हैं। ये रोगी के लिए अधिक कष्टकारक नहीं होते तथा शीघ्र ठीक हो जाते हैं।

(ii) **दारूण रोगः**— जिन रोगों की उत्पत्ति अनेक कारणों से होती है। जिनमें पूर्व रूप तथा लक्षण अधिक संख्या में उत्पन्न होते हैं और जो सुगमता से चिकित्सा करने पर साध्य नहीं होते।

(3) **अधिष्ठान भेद सेः**

(i) **शारीरिक रोगः**—शरीर मेंत्रिदोष प्रकोप से ज्वरादि रोग उत्पन्न होते हैं। इन्हें शारीरिक रोग कहते हैं।

(ii) **मानसिक रोगः**—रज एवं तमगुण की अधिकता से काम–क्रोध, उन्माद–अपस्मार आदि रोग होते हैं, जो मन को प्रभावित करते हैं। ये मानसिक रोग कहलाते हैं।

(4) निमित्त भेद सेः–

(i) निज रोगः– जो रोग मिथ्या आहार–विहार के कारण शरीर में वि|मान त्रिदोष के प्रकोप से होते हैं। उन्हें निज रोग कहा जाता है। इन्हें धातु वैषम्य निमित्त रोग भी कहते हैं।

(ii) आगन्तुजः–जिन रोगों की उत्पत्ति शारीरिक दोष प्रकोप के अतिरिक्त किन्ही बाह्य कारणों जैसे शस्त्र से कटने, सर्प वृश्चिक आदि के दंश से एवं जगम एवं स्थावर विष सेवन अथवा विषाणु या जीवाणु के संक्रमण से होते हैं। इन्हें आगन्तुज रोग कहा जाता है।

(5) आशय भेद से–

(i) आमाशय समुत्थः–जिन रोगों की उत्पत्ति आम रस से युक्त दोषों से होती है। उन्हें आमाशय समुत्थ रोग कहा जाता है– जैसे ज्वर, रक्तपित्त आदि। प्रायः पित्तज एवं कफज रोग आमाशय समुत्थ होते हैं।

(ii) पक्वाशय समुत्थः–इन रोगों में दोष आमयुक्त नहीं होते अपितु निराम अवस्था में रोगों की उत्पत्ति होती हैं। प्रायः वात से उत्पन्न सभी रोग पक्वाशय समुत्थ होते हैं।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार रोगों का वर्गीकरण –

आचार्य सुश्रुत ने रोगों के निम्न तीन भेद किये हैं–

(i) आध्यात्मिक रोगः–शरीर–इन्द्रियाँ–मन एवं आत्मा के संयोग को आयु या जीवन माना गया है। आत्मा शरीर में चेतना का कारण है तथा यह शरीर में निवास करती है। मन एवं इन्द्रियों के तादात्म्य से ही आत्मा समस्त ज्ञान परम्परा का वहन करती है अतः आत्म शब्द से शरीर सहित मन का ग्रहण अपेक्षित है। अतः इनमें होने वाले शारीरिक एवं मानसिक रोगों को आध्यात्मिक रोग कहा जाता है।

(ii) आधि भौतिकः–धूप–वर्षा–तूफान–आँधी–भूकम्प आदि से तथा दूषित वातावरण(pollution) से होने वाले रोगों को आधिभौतिक कहते हैं।

(iii) आधि दैविकः–मनुष्येतर योनियों में होने वाले तथा सूक्ष्म जीवाणुओं से होने वाले रोगों की गणना इस वर्ग में की जा सकती है। पूर्व जन्म कृत कर्मों के परिणाम स्वरूप होने वाले रोगों को भी इस श्रेणी में रखा गया है।

आचार्य सुश्रुत ने रोगों को पुनः निम्न सात वर्गों में विभाजित किया हैः–

(i) आदिबल प्रवृत्तः–(Hereditory Disease) इस श्रेणी में वंश परम्परा अर्थात् वंशानुगत होने वाले रोगों की गणना की गई है। वातादि दोषों से दूषित स्त्री बीज अथवा पुरुषबीज के द्वारा भावी संतान में रोगों का होना आदि बल प्रवृत्त माना जाता है। जैसे मधुमेह। आचार्य चरक ने इन रोगों को कुलज रोग कहा है तथा आचार्य वाग्भट ने इन्हें सहज रोग की श्रेणी में रखा है।
आदि बल प्रवृत्त रोगों को दो भागों में विभाजित किया गया है।

- **(i) मातृज रोगः**–दूषित स्त्रीबीज(ovum) से होने वाले रोग मातृज रोग कहलाते हैं।
- **(ii) पितृज रोगः**–दूषित पुरुषबीज(sperm) से होने वाले रोग पितृज रोग कहलाते हैं।

(ii) जन्मबल प्रवृत्तः–(congenital disease) गर्भावस्था में माता द्वारा किये गये मिथ्या आहार–विहार यथा–धूम्रपान, म| का सेवन, चिन्ता, शोकादि के कारण गर्भस्थ शिशु को अनेकानेक, रोग जैसे– पंगु, आन्ध्य, बधिर, मूक आदि हो जाते हैं। इन्हें जन्म बल प्रवृत्त रोग कहते हैं। निदान की दृष्टि से इन्हें दो प्रकार से विभाजित किया गया है–

(i) रस कृत–माता के आहार रस से सम्बन्धित रोग कार्श्य, स्थौल्य आदि।
(ii) दौहृदोपचारकृत–गर्भावस्था में माता की आहार सम्बन्धी इच्छाओं की पूर्ति

नहीं होने पर सन्तान में होने वाले विभिन्न रोग इसे श्रेणी में माने जाते हैं।

आचार्य वाग्भट ने इन्हें गर्भज रोग कहा है।

(iii) दोषबल प्रवृत्त रोगः—मिथ्या आहार—विहार से दोष प्रकोप के कारण होने वाले रोग इस श्रेणी में परिगणित किये गये हैं। इन्हें शारीरिक एवं मानसिक दो प्रकार से विभाजित किया गया है। शारीरिक रोगों को पुनः आमाशय समुत्थ एवं पक्वाशय समुत्थ द्विधा विभाजित किया है। आचार्य वाग्भट ने इन्हें जातज रोग कहा है।

(iv) संघातबल प्रवृत्त रोगः—शारीरिक दोषों के प्रकोप से इतर बाह्य कारणों जैसे बलवान व्यक्ति से युद्ध करने से, शस्त्र आदि के आघात से या विषेले प्राणी के काटने आदि से होने वाले सभी आगन्तुक रोग इस वर्ग में समाविष्ट किये गये हैं। आचार्य वाग्भट ने इन्हें पीड़ाज रोग कहा है।

(v) कालबल प्रवृत्तः—ऋतुजन्य रोग इस श्रेणी में परिगणित हैं। आचार्य वाग्भट ने इन्हें कालज रोग कहा है।

(vi) दैव बलप्रवृत्तः—मनुष्य से इतर योनियों के शरीर में प्रविष्ट होकर होने वाले अनेक प्रकार के उत्पन्न विकार तथा देवों गुरुओं के अभिशाप के कारण होने वाले रोग दैव बल प्रवृत्त रोग कहलाते हैं। इन्हें दो प्रकार से विभाजित किया गया है—

(i) **वि|त दशनिकृता** —भूकम्प, वि|तपात आदि से होने वाले रोग।

(ii) **पैशाचकृत** —इनमें मनुष्येतर योनियाँ भूत, प्रेत, पिशाचादि के शरीर में प्रविष्ट होने से जिन रोगों की उत्पत्ति होती है।उन्हें इस वर्ग में समावेशित किया गया है।

दैव बल प्रवृत्त रोगों को पुनः निम्न दो भागों में विभाजित किया है—

(i) **संसर्गज रोग** —संक्रामक रोगों से ग्रस्त व्यक्ति के संसर्ग में 'रहने के कारण होने वाले रोग इस श्रेणी में रखे गये हैं, जैसे— फिरंग, पूयमेह आदि रोग।

(ii) **आकस्मिक रोग** —जो रोग बिना संसर्ग के पूर्वकृत कर्मों के फलस्वरूप अचानक हो जाते हैं। आचार्य वाग्भट ने इन्हीं प्रभावज रोग कहा है।

(vii) स्वभाव बल प्रवृत्तः—क्षुधा, पिपासा, जरा, मृत्यु एवं निद्रा आदि स्वाभाविक रूप से होने वाले रोगों का समावेश स्वभाव बल प्रवृत्त रोगों में होता है।
आचार्य वाग्भट ने इन्हें स्वभावज रोग कहा है।

4.4 सारांश

शरीर या मन को किसी भी रूप में पीड़ा पहुँचाने वाले लक्षण या लक्षण समूह को रोगों के रूप में जाना जाता है। दोष, धातु एवं मलों के सम्यक स्थिति में होने से 'समस्त शारीरिक एवं मानसिक क्रिया कलाप अबाध रूप से क्रियान्वित रहते हैं। ऐसी स्थिति को प्रकृति (स्वस्थवस्था) के रूप में कहा गया है। इसके विपरीत उक्त धातुओं में विषमता होने पर समस्त शारीरिक—मानसिक क्रियाओं में बाधा उत्पन्न होने लगती है। उस स्थिति को विकृति (रोगावस्था) के नाम से संबोधित किया गया है। इस धातु वैषम्य का मूल कारण मिथ्या आहार एवं विहार माना गया है। जिन्हें निदान भी कहा जाता है।

आचार्य चरक ने आमय, दुःख, आतंक, पाप्मा एवं विकार रोगों के पर्याय बताये हैं। य|पि रोगों के विविध दृष्ट्या अनेक भेद किये गये हैं तथापि मुख्य रूप से शरीर को प्रभावित करने वाले रोग शारीरिक एवं मन को प्रभावित करने वाले रोग मानसिक रोग कहे गये हैं।

4.5 पारिभाषिक शब्दावली

(i) प्रकृति—वात—पित्त—कफ तीनों दोषों सम प्रमाण में होना।

(ii) विकृति–वात–पित्त–कफ तीनों दोषों का विषम होना।
(iii) साम्य –प्राकृत अवस्था।
(iv) वैषम्य –विकृत अवस्था।
(v) पंचमहाभूत–पृथ्वी–जल–तेज–वायु एवं आकाश।
(vi) शरीरि–शरीर में निवास करने वाला तत्व–आत्मा।
(vii) समवाय –अपृथक् भाव अर्थात् जिन दो वस्तुओं को पृथक नहीं किया जा सके।
(viii) पुरुष –चिकित्सा का अधिष्ठान अर्थात् जिसकी चिकित्सा की जाती है।
(ix) आमय –आम से उत्पन्नहोने वाला, रोग का पर्याय।
(x) आतंक–शरीर में हलचल पैदा करने वाला, रोग का पर्याय।
(xi) पाप्मा –पाप कर्म से जिसकी उत्पत्ति हो, रोग का पर्याय।
(xii) असाध्य रोग –जो रोग औषध या आहार से भी ठीक नहीं होते हैं।
(xiii) मृदु –अल्प प्रभाव वाले।
(xiv) दारूण –अधिक घातक, कठिनाई से ठीक होने वाले रोग।
(xv) अधिष्ठान –स्थान।
(xvi) शारीरिक दोष –वात–पित्त–कफ।
(xvii) मानसिक दोष –रज–तम।
(xviii) आमाशय समुत्थ रोग –आम एवं आमाशय से उत्पन्न होने वाले रोग।
(xix) पक्वाशय समुत्थ रोग –निराम या पक्वाशय से उत्पन्न होने वाले रोग।
(xx) आध्यात्मिक –शरीर, मन एवं आत्मा से संबंधित।
(xxi) आधि भौतिक –बाह्य जगत या पर्यावरण दूषित होने से होने वाले रोग।
(xxii) आधि दैविक –सूक्ष्म जीवाणुओं से होने वाले रोग (Infections diseases)
(xxiii) आदि बल प्रवृत रोग –वंशानुगत रोग (Hereditory diseases)
(xxiv) मातृज रोग –दूषित स्त्री बीज से होने वाले रोग।
(xxv) पितृज रोग –दूषित पुरुष बीज से होने वाले रोग।
(xxvi) संघात बल प्रवृत्त –आघात से होने वाले रोग।
(xxv) कुलज विकार –कुल परम्परा से होने वाले रोग (Hereditory Disease)
(xxvi) संसर्गज रोग –(Infectious Diseases)

4.6 अभ्यास प्रश्न

प्र.1 आचार्य चरक के अनुसार प्रकृति एवं विकृति (विकार) क्या है?
प्र.2 आचार्य सुश्रुत के अनुसार 'पुरुष' को समझाइये।
प्र.3 आचार्य चरक ने रोग के पर्याय क्या बताये हैं?
प्र.4 आचार्य विजय रक्षित के अनुसार व्याधि की परिभाषा क्या है?
प्र.5 साध्य रोग एवं असाध्य रोग किसे कहते हैं?
प्र.6 अधिष्ठान भेद से रोगों के कितने प्रकार हैं?
प्र.7 आमाशय समुत्थ किन्हीं दो रोगों के नाम लिखिये।
प्र.8 आदिबल प्रवृत्त रोग किसे कहते हैं? किन्हीं दो रोगों के नाम लिखिये।
प्र.9 जन्म बल प्रवृत्त रोग किसे कहते हैं? किन्हीं दो रोगों के नाम लिखिए।
प्र.10 दैव बल प्रवृत्त रोगों को आधुनिक परिवेश में क्या कहेंगे?

4.7 प्रश्न एवं प्रश्नों के उत्तर

प्र.1 आचार्य चरक के अनुसार प्रकृति एवं विकृति (विकार) क्या है?

उत्तर धातुओं (त्रिदोष–सप्तधातु–त्रिविध मल) का सम अवस्था में होना प्रकृति है।यह स्वस्थ अवस्था का परिचायक है। धातु वैषम्य अर्थात् धातुओं विषम होना विकार याविकृति है। जिसे रोग कहा जाता है।

प्र.2 आचार्य सुश्रुत के अनुसार 'पुरुष' को समझाइये।

उत्तर पंचमहाभूत (पृथ्वी–जल–तेज–वायु–आकाश) एवं आत्मा का संयोग होने पर पुरुष की निर्मिति होती है। इसी पुरुष की चिकित्सा की जाती है।

प्र.3 आचार्य चरक ने रोग के पर्याय क्या बताये हैं?

उत्तर आचार्य चरक के अनुसार आमय, दुःख, आतंक, पाप्मा एवं विकार रोग के पर्याय है।

प्र.4 आचार्य विजय रक्षित के अनुसार व्याधि की परिभाषा क्या है?

उत्तर 'तथा विध दोष दूष्य सम्मूर्च्छना विशेषोज्वरादि रूपों व्याधिः'
अर्थात् दोष (दूषित वात–पित्त–कफ) एवं दूष्य (रस–रक्त–मांस–मेद–अस्थि–मज्जा–शुक्र एवं मल) का विशिष्ट प्रकार से मिलन ही व्याधि है, जैसे ज्वर।

प्र.5 साध्य रोग एवं असाध्य रोग किसे कहते हैं।

उत्तर जिन रोगों का औषध एवं आहार से उपचार सम्भव हो, वे रोग साध्य रोग तथा जिन रोगों का औषध–आहार द्वारा उपचार सम्भव नहीं हो, वे असाध्य रोग कहे जाते हैं।

प्र.6 अधिष्ठान भेद से रोगों के कितने प्रकार हैं?

उत्तर अधिष्ठान के आधार पर रोगों के निम्न दो भेद हैंः–
(i) शारीरिक रोग –त्रिदोष विषमता के कारण होने वाले रोग, जो शरीर को प्रभावित करते हैं, उन्हें शारीरिक रोग कहा जाता है। जैसे– ज्वर–प्रमेह आदि।
(ii) मानसिक रोग –जो रज एवं तम के वैषम्य से उत्पन्न होते हैं तथा मन को प्रभावित करते हैं, उन्हें मानसिक रोग कहा जाता है।
जैसे– उन्माद, अतत्वाभिनिवेष।

प्र.7 आमाशय समुत्थ किन्हीं दो रोगों के नाम लिखिये।

उत्तर ज्वर – रक्त पित्त।

प्र.8 आदिबल प्रवृत्त रोग किसे कहते हैं? किन्हीं दो रोगों के नाम लिखिये।

उत्तर वातादि दोषों से दूषित स्त्री बीज (ovum) अथवा पुरुष बीज (sperm) के द्वारा भावी संतान में रोगों की उत्पत्ति होना, आदि बल प्रवृत्त रोग कहे जाते हैं। जैसे मधुमेह–श्वित्र।
आधुनिक विज्ञान में इन्हें Hereditory disease कहा जाता है।

प्र.9 जन्म बल प्रवृत्त रोग किसे कहते हैं? किन्हीं दो रोगों के नाम लिखिय।

उत्तर गर्भावस्था में माता द्वारा किये जाने वाले मिथ्या आहार एवं विहार यथा– धूम्रपान, म| का सेवन, रात्रि जागरण, दिवाशयन, चिन्ता–शोकादि के कारण गर्भस्थ शिशु में अनेक रोग होने की सम्भावना होती है। जिन्हें जन्म बल प्रवृत्त रोग कहा जाता है। आधुनिक विज्ञान में इन्हें congenital diseases कहा जाता है। जैसे– पंगु (cerebral palsy),बधिर (Deaf) आदि।

प्र.10 दैव बल प्रवृत्त रोगों को आधुनिक परिवेश में क्या कहेंगे?

उत्तर मनुष्य से इतर योनियों के शरीर में प्रविष्ट होकर अनेक प्रकार के उत्पन्न विकार तथादेवों एवं गुरुओं के अभिशाप के कारण उत्पन्न होने वाले रोग दैव बल प्रवृत्त रोग कहे जाते हैं।
अनेक विषाणु (virus) पशु–पक्षियों के शरीर में प्रवेश करके वृद्धि करते हैं तथा पुनः मनुष्यों के शरीर में पहुँचकर रोगोत्पादन करते हैं। गुरु–दैव अभिशाप से अभिप्राय है कि जो लोग सामाजिक आदर्शों का उल्लंघन करते हैं उनकी रोग प्रतिरोधक क्षमता (immunity) दुर्बल हो जाती है। इस प्रकार के लोगों में प्रायः ऐसे रोग देखे जाते हैं।
उदाहरण –Malaria, Covid-19, SARS

4.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

1– चरक संहिता – पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध
2– सुश्रुत संहिता पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध
3– अष्टांग संग्रह सूत्र स्थान

खण्ड- दो (Section-B)
सिद्धान्त एवं ओषधि

इकाई.1 त्रिगुण, त्रिदोष, त्रिमल का परिचय एवं मूलभूत अवधारणा

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 त्रिगुण शब्द का अर्थ एवं स्वरुप
1.4 त्रिगुणों का कार्य
1.5 त्रिदोष शब्द का अर्थ एवं स्वरुप
1.6 त्रिदोषों का कार्य
1.7 त्रिदोषों का शारीरिक प्रभाव एवं उपाय
1.8 त्रिमल शब्द का अर्थ एवं स्वरुप
1.9 त्रिमलोंका शारीरिक प्रभावएवं उपाय
1.10 त्रिगुणत्रिदोष एवं त्रिमल की अवधारणा ,
1.11 सारांश
1.12 शब्दावली
1.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.14 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.15 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

भारतीय ज्ञान परंपरा के आधार स्तम्भ 'वेद' निश्चित रूप से समृद्ध है, ऐसा कोई भी विषय, वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक दार्शनिक अथवा लोकविद्या सम्बद्ध नहीं है, जिसकी विषद चर्चा इसमें न हुई हो। विभिन्न ज्ञान-विज्ञान से संपन्न इन वेदों में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद के उपवेदों (आयुर्वेद, यजुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा स्थापत्यवेद) में भी ज्ञान संबंधी विविध विषय सामग्री का उल्लेख उपलब्ध होता है। ऋग्वेद के उपवेद आयुर्वेद में चिकित्सा की विभिन्न पद्धतियों एवं नाना रोगों के उपचार के साथ ही विविध प्रकार की औषधियों का उल्लेख उपलब्ध होता है। इसी का अनुशीलन कर चिकित्साशास्त्रियों ने आयुर्वेद के विविध ग्रंथों की रचना की, जिसमें आचार्य चरक द्वारा विरचित 'चरकसंहिता' भारतीय आयुर्वेद परंपरा का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। आचार्य चरक ने आयुर्वेद को शाश्वत कहा है- यह आयुर्वेद अनादि होने से, अपने लक्षण के स्वभावतः सिद्ध होने से एवं भावों के स्वभाव के नित्य होने से शाश्वत अर्थात् अनादि या अनंत है-

सोऽमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते अनादित्त्वात्।
स्वाभावसंसिद्धलक्षणत्वात्, भावस्वभाव नित्यत्त्वाच्च।। च. सं. सू. 30/26

प्रस्तुत हम भारतीय आयुर्वेद चिकित्सा में खण्ड-2 सिद्धांत एवं औषधि की इस इकाई के अंतर्गत प्रमुख विषयों- त्रिगुण, त्रिदोष एवं त्रिमल शब्द की व्युत्पत्ति, उनका स्वरुप तथा कार्य एवं मानव शरीर पर पड़ने वाले इनके प्रभावों के साथ-साथ त्रिगुण, त्रिदोष एवं त्रिमल की मूलभूत अवधारणाओं के विषय में अध्ययन करेंगे।

1.2 उद्देश्य

- प्रस्तुत इकाई में हम आयुर्वेद के प्रमुख सिद्धांतो के अंतर्गत त्रिगुण, त्रिदोषत्रिमल शब्द , के अर्थ को जानेंगे।
- इस इकाई में आप त्रिगुण त्रिदोष एवं ,त्रिमल से मानव शरीर पर पड़ने वाले प्रभावों को जानेंगे।
- प्रस्तुत इकाई में आप त्रिगुणत्रिदोष एवं त्रिमल संबंधी मूलभूत अवधारणाओं के विषय , से अवगत होंगे।

1.3 त्रिगुण शब्द का अर्थ एवं त्रिगुण का परिचय

त्रिगुण शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है- **त्रि+गुण** जिसका अर्थ है, तीन प्रकार के गुण अर्थात् ये तीन प्रकार के गुण सत्त्व, रज एवं तम हैं। आचार्य चरक ने तीनों गुणों की साम्यावस्था को ही प्रकृति कहा है। सांख्य में सत्त्व, रज एवं तम को प्रकृति की संज्ञा दी गई है।प्रकृति के ये तीन मूलभूत गुण व्यक्ति की शारीरिक प्रकृति एवं व्यवहार को प्रभावित करते हैं। सत्व गुण सत्य, ज्ञान, प्रेम और शांति,रजस गुण क्रियाशीलता, उत्साह एवं तम गुण जड़ता, अज्ञान एवं अंधकार का प्रतीक है।प्रकृति के सभी घटकों में त्रिगुण प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप में विद्यमान हैं। मनुष्य अपने जीवन यापन हेतु प्रकृति पर निर्भर है अत एव ये गुण मनुष्य को प्रभावित करते हैं।त्रिगुणों में सत्त्व, रज एवं तम को हम निम्नलिखित रूप से पृथक-पृथक से समझ सकते हैं-

सत्त्वगुण—

सत्त्व गुण, प्रकृति के तीन गुणों में एक है। यह गुण हल्का या लघु एवं प्रकाश करने वाला है। पुरुष का प्रकृति से सम्बन्ध इसी गुण से होता है। बुद्धिगत सत्य में पुरुष अपना बिम्ब देखकर स्वयं को कर्ता मानकर सत्वगत मलिनता आदि का आरोप करने लगता है। सत्व की मलिनता या शुद्धता के अनुसार व्यक्ति की बुद्धि मलिन या शुद्ध होती है। अत: योग एवं सांख्य दर्शन में सत्व शुद्धि पर जोर दिया गया है एवं जिन वस्तुओं से बुद्धि निर्मल होती है उन्हें सात्विक वस्तु कहा गया हैं। इसके अतिरिक्त आहार, व्यवहार, विचार आदि पवित्र हों तो सत्व गुण की अभिवृद्धि होती है, जिससे बुद्धि निर्मल होती है एवं अत्यंत निर्मल बुद्धि में पड़े प्रतिबिंब से पुरुष को अपने वास्तविकनिरंजन रूप का ज्ञान हो जाता है एवं वह मुक्त हो जाता है।सत्त्व गुण से युक्त सात्त्विक मनुष्य- मन में शांत, स्थिर और एकाग्र होते हैं, वे सुख, संतुष्टि और आनंद की भावना रखते हैं, उनके मन में दया, करुणा एवं क्षमा की भावना प्रबल होती है,वे ज्ञान तथा समझ के प्रति उत्सुक होते हैं एवं आध्यात्मिक पुस्तकों का अध्ययन करना पसंद करते हैंवे पवित्रता एवं शुद्धता के प्रतीक होते हैं तथा उनका व्यवहार भी शुद्ध होता है, उनका अध्यात्म के प्रति झुकाव होता है।

रजोगुण—

रजोगुण, जिसे राजस गुण या रज भी कहा जाता है, प्रकृति के तीन गुणों में से एक है, जो गति, परिवर्तन एवं क्रियाशीलता से जुड़ा है। यह कामुक इच्छा, सांसारिक लोभ, अभिमान, असत्य एवंपीड़ा आदि की भावनाओं से युक्त है। रज के आधिक्य से युक्त व्यक्ति गति एवं परिवर्तन की ओर उन्मुख होता है तथा वह कर्म, प्रयास तथा संघर्ष से जुड़ा होता है। रजोगुण कर्म के बंधन में बांधता है, अर्थात, यह मनुष्य को कर्मों के परिणामों से समन्वित करता है। रजोगुण कामना, आसक्ति एवं लालसा से युक्त है, जो मनुष्य को सांसारिक सुखों एवं भोगों की ओर उन्मुख करवाता है। रजोगुण मनुष्य में चिंता, भय, चिड़चिड़ापन एवं तनाव जैसी नकारात्मक भावनाओं को जन्म देता है।

तमोगुण—

तमो गुण, तीन गुणों में से एक है, जो अज्ञान, अंधकार एवं निष्क्रियता से जुड़ा है। यह आलस्य, घृणा, संदेह, और भ्रम जैसे नकारात्मक गुणों से भी संबंधित है। तमो गुण अज्ञानता और अंधकार का प्रतीक है, जो व्यक्ति को सही-गलत, सत्य-असत्य का भेद करने से रोकता है। यह मनुष्य में आलस्य एवं निष्क्रियता,घृणा, संदेह, भ्रम, अपराधबोध, शर्म, लत, उदासीनता, शोक, एवं निर्भरता जैसे नकारात्मक गुणों को बढ़ावा देता है। तामसिक प्रवृत्ति वाले व्यक्ति दूसरों को कष्ट देने वाले, अपराध करने वाले, एवं दूसरों का अहित करने वाले होते हैं। पूर्वोक्त तीनों गुणों के सन्दर्भ में सांख्य दर्शन में भीउल्लेख उपलब्ध होता है-

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रज:।
गुरु वरणमेव तम: प्रदीप्वाच्चार्थतो वृत्ति:।।

1.2 त्रिगुणों के कार्य

प्रकृति की साम्यावस्था का त्रिगुणों (सत्त्व, रज, तम) द्वारा निर्धारित होता है,एवं त्रिगुण प्रकृति की सभी प्रकार की वस्तुओं में विद्यमान हैं, इस दृष्टी से इन्हें सात्विक, राजसिक, तामसिक द्रव्य की संज्ञा भी दी गयी है।जिस प्रकार सांख्य में त्रिगुणों को ब्रह्माण्ड की रचना का आधार ममना गया है, भगवतगीता में मनुष्य के स्वभाव एवं कर्मों को प्रभावित करने के सन्दर्भ में त्रिगुणों का स्वरुप का उल्लेख किया गया है उसी प्रकार आयुर्वेद में, त्रिगुणों का उपयोग मानव शरीर के त्रिदोष को

समझने और संतुलित करने के लिए किया जाता है एवं इनसे ही मनुष्य की प्रकृति का निर्धारण माना गया है।आयुर्वेद शास्त्र के अंतर्गत मनुष्य की शारीरिक प्रकृति एवं मानसिक प्रकृति का अध्ययन किया जाता है, अत एव इन दोनों प्रकृतियों में त्रि द्रव्यों का संतुलन आवश्यक माना गया है। किसी एक द्रव्य का भी इन प्रकृतियों में अपकर्ष होता है तो वहाँ दोष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है- दोषाः तस्यापकर्षकाः। गर्भादान के समय वीर्य एवं राजस का संयोग होने से वात, पित्त दोष या कफ में एक की अधिकता होने के कारण मानस प्रकृति का निर्धारण होता है, ये प्रकृतियाँ तीन हैं-सात्विक, राजसिक, तामसिक।**सात्त्विक प्रकृति** से युक्त मनुष्य में सत्त्वगुण की प्रधानता होती है इस कारण उसमें विवेक, क्षमा, संतोष, दया, लज्जा, इन्द्रियों तथा मन की निर्मलता, अनाशक्ति, लघुता, परोपकारता आदि गुण अधिक मात्र में पाए जाते हैं। **राजसिक प्रकृति** वाले मनुष्य में रजो गुण की प्रधानता अधिक होती है। इस कारण वह चंचल,तृष्णा, अहंकार, लोभ, शोक, विभिन्न भोगों में आसक्ति एवं इसके अतिरिक्त वह मुख्य रूप से विवध दुःख आदि से ग्रसित रहता है। **तामसिक प्रकृति** में तमो गुण की प्रधानता रहती है, जिस कारण वह मिथ्याज्ञान, दीनता, निष्क्रियता, मोह एवं गुरुत्त्व आदि की विशेषताओं से युक्त होता है। इस प्रकार पूर्वोक्त कार्यों एवं विविध विशेषताओं से युक्त त्रिगुणतीन प्रकार की प्रकृतियों का निर्माण करते हैं।

1.3 त्रिदोष शब्द का अर्थ एवं स्वरुप

मनुष्य का दोष, धातु एवं मल से निर्मित है। इस दृष्टी से शरीर में पाए जाने वाले विभिन्न तत्त्व त्रिदोषों में अन्तर्निहित रहते है। त्रिदोष शब्द का अर्थ शरीर के तीन मौलिक तत्वों का समूहसे है- **वात, पित्त एवं कफ**। आयुर्वेद में ये तीनों तत्त्व शरीर की उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश के हेतु कहे गए हैं। इन तीन तत्वों का संतुलन ही स्वास्थ्य का आधार है। वात, पित्त एवं कफ शरीर की विभिन्न क्रियाओं को नियंत्रित करते हैं, जैसे कि गति, पाचन तथा शरीर का तापमान। इन्हें निम्न रूप में समझा जा सकता है-

वात—

वात सेतात्पर्य वायु से है, जो वा धा से निष्पन्न है, जिसके अनुसार शरीर में गति या उत्साह का नियंत्रण करने वाला **"वात"** शब्द से अभिधेयित है। वायु से शरीर की सभी गतिशील क्रियाएं होती हैं।जिससे तंत्रिका तंत्र नियंत्रित रहता है।

पित्त—

पित्त शब्द तप धातु से निष्पन्न है- **तपति एवं पित्तम्** अर्थात जोतत्त्व शरीर में ताप या उच्चता उत्पन्न करता है वह "**पित्त**" कहलाता है। यह शरीर में पाचक रसों एवं हार्मोन्स का नियमन करने के साथ ही शरीर के तापमान को नियंत्रित करता है।

कफ—

त्रिदोषो में जल से उत्पन्न दोष **"कफ"** कहा गया है- केन जलेन फलति निष्पद्यते इति कफः। काफ को आयुर्वेद में श्लेष्मा की संज्ञा दी गई है। अर्थात् संयोग कराने वाला या मिलाने वाला श्लेष्मा कहलाता है। श्लिष्यन्ति इति श्लेष्मा। कफ शरीर के सभी अंगों के पोषण के साथ-साथ वात एवं पित्त में संतुलन बनाये रखता है।

इन तीनों तत्वों का संतुलन शरीर के लिए आवश्यक है, क्योंकि वे सभी मिलकर शरीर के कार्यों को सुचारू रूप से गतिशील बनाते हैं, जब इनमें से कोई भी तत्व असंतुलित होता है, तो इससे विभिन्न प्रकार के स्वास्थ्य संबंधी समस्याएं उत्पन्न होती हैं। उदाहरण के लिए, वात के

असंतुलन से घबराहट, चिंता, या पाचन संबंधी समस्याएं हो सकती हैं। इसी प्रकार, पित्त के असंतुलन से क्रोध, एसिडिटी, या त्वचा संबंधी समस्याएं हो सकती हैं एवं कफ के असंतुलन से सुस्ती, वजन बढ़ना, या सर्दी-खांसी होने की संभावना बनी रहती हैं।

1.4 त्रिदोषों का कार्य

शरीर में विद्यमान त्रिदोषों- वात, पित्त एवं कफ का शारीरिक संतुलन बनाए रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इनमें से यदि कोई एक भी विकृत होता है, तो यह शरीर को हानि पहुंचाते हैं, कभी-कभी ये त्रिदोष ही मृत्यु का कारण बन जाते हैं। इसके विपरीत वात, पित्त एवं कफ की संतुलित अवस्था में ये सभी शरीर की क्रियाओं का संचालन कर उसे गतिशील बनाए रखते हैं।ये त्रिदोष यद्यपि शरीर के सभी अंगों में विद्यमान रहते हैं किन्तु विशेषतः यह नाभि, हृदय एवं हृदय से ऊपर के भाग में रहते हैं। (वात-नाभि के निम्न भाग में, पित्त-नाभि एवं हृदय के मध्य में, कफ- हृदय से उपरी भाग में) एवं शरीर में विविध कार्यो का निष्पादन करते हैं-

वायु पित्तं कफश्चेति त्रयो समासतः
विकृताऽविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्तयन्ति च ।।
ते व्यपिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योहर्वसश्रयाः।।

वात का कार्य— विक्षेप अर्थात् शारीरिक गतियों का सञ्चालन एवं नियंत्रण करना है। वात में आकाश वायु दो महाभूतों की प्रधानता मानी गई है। यह यह वात पांच रूपों से शरीर में गतिशील रहता है- प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान। **प्राणवात** सिर, ग्रीवा तथा वक्ष स्थल में स्थित रहकर स्वशन आदि क्रियाओं को कर मस्तिष्क के सभी कार्यों को नियंत्रित रखता है। **अपानवात** मूत्राशय में स्थित है अर्थात् यह गुदा आदि की ओर बहने वाली वायु है, इसका मुख्य कार्य मल-मूत्र एवं वीर्य का निष्कासन एवं स्त्रियों के मासिक धर्म को नियंत्रित करना है।**व्यानवात**सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहकर शरीर की समस्त गतियों पर नियंत्रण रखता है।**उदान वात** ग्रीवा एवं वक्षस्थल में अवस्थित रहकर वाणी को नियंत्रित करता है। **सामान वात** भोजन के पाचन एवं मल-दूषणों के पृथकीकरण को संचालित करेने के साथ-साथ शरीर का ताप, विविध द्रव्य पदार्थों तथा पित्त एवं कफ को नियंत्रित करता है।

पित्त का कार्य— मानवीय ताप को धारण करना है, इसमें अग्नितत्त्व की प्रधानता होती है।इसका मुख्य कार्य भोजन का पाचन कर उसे उर्जा में परवर्तित करना है, यह शरीर में पाचन संतुलन के साथ-साथ रासयानीकरण, यकृत, आमाशय संबंधी आदि क्रियाओं का सञ्चालन करता है।वात के सामान पित्त भी पांच रूपों में मानव शरीर में कार्य करता है-आरोचक पित्त, साधकपित्त, भ्राजकपित्त, पाचकपित्त एवं रंजक पित्त। **आरोचक पित्त**शरीर में आँखों के रंग अथवा देखने की क्रियाओं का सञ्चालन करता है।**साधक पित्त** हृदय में अवस्थित बौद्धिक व उत्साह शक्ति की वृद्धि करता है। **भ्राजक पित्त शारीरिक** ताप को नियंत्रित कर त्वचा को सुन्दर बनाने का कार्य करता है।पाचक पित्त छोटी आँत में अवस्थित रहकर भोजन पचाने की क्रिया को पूर्ण करता है। रंजक पित्त यकृत तथा मूत्राशय में अवस्थित रहते हुए रक्त का निर्माण एवं शारीरिक प्रतिरक्षण की वृद्धि करता है।

कफ का कार्य— मानव शरीर का जलीय अंश कहा कहा गया है, जिसके कारण यह द्रव्य (द्रव)पदार्थों को धारण करता है। वात एवं पित्त के सामान ही कफ भी पांच रूपों में मानव शरीर में कार्य करता है-तर्पककफ, बोधक कफ अवलम्बक कफ क्लेदक कफ एवं श्लेष्मक कफ।

तर्पक कफ की अवस्थिति शिर में होती है यह मस्तिष्क तथा ज्ञानेन्द्रियों को उनके कार्य निष्पादन में सहयोग प्रदान करता है। **बोधक कफ**की अवस्थिति मानव शरीर के जीभ एवं आहारनाल में मानी जाती है इसका मुख्य कार्य भोजन में स्वाद का अनुग्रहण करवाना है। **अवलम्बक कफ**मानव शरीर के हृदय एवं त्रिक में अवस्थित रहते हुए हृदय को सुचारू रूप से संचालित करता है। **क्लेदक कफ** छोटे-छोटे कणों में विभक्त भोजन को आद्रता अर्थात् नमी या द्रव्यता प्रदान करना है। एवं **श्लेष्मक कफ** का कार्य मानव शरीर की अस्थियों को सुदृढ़ता प्रदान करना है। इस प्रकार वात, पित्त एवं कफ तीनों मिलकर मानव शरीर में अपने-अपने कार्यों का निर्वहन करते हैं।

1.5 त्रिदोषों का शारीरिक प्रभाव एवं उपाय

त्रिदोष आयुर्वेद में शरीर की तीन मूलभूत ऊर्जाएं हैं जो शारीरिक कार्यों को नियंत्रित करती हैं। इन दोषों का असंतुलन तनावखराब आहार एवं खराब जीवनशैली के कारण हो सकता है। इन त्रिदोषों से मानव शरीर पर पड़ने वाले प्रभावों को निम्न रूप समझा सकता है-

शारीरिक प्रभाव—

1. वात के संतुलित रहने की अवस्था में जहाँ एक ओर मनुष्य तीव्र कल्पना शक्ति, संवेदन शीलता, लचीलापन एवं उल्लासित रहता है वहीं दूसरी ओर वात के असंतुलित रहने की अवस्था में मनुष्य में शरीर का भार कम, शक्ति का ह्रास होना, गठिया, कब्ज़, हृदय रोग, मानसिक विकार, उच्च रक्तचाप इत्यादि प्रभाव दृष्टीगत होते हैं।**पित्त** की संतुलानावास्था में शरीर में प्रज्ञा, दृढविश्वास, उद्यमशील आह्लादपूर्ण गुणों की वृद्धि होती है एवं पित्त की अधिकता या असंतुलन होने पर जठराग्नि का मंद होना, विदग्धता, कमला शोथ, ज्वरादी रोग उत्पन्न हो जाते हैं साथ ही साथ (मेध धातु की वृद्धि से) शरीर में जलन, पागलपन, अजीर्णता, मधुमेह तथा जरोदर रोगों की उत्पत्ति हो जाती है। **कफ** के असामान्य होने की अवस्था में जहाँ एक ओर यह शरीर में मधुमेय, अजीर्णता, जरोदर एवं आमवात जैसे विविध रोग उत्पन्न हो जाते हैं, वहीं संतुलित अवस्था में यह मानव शरीर में शांति, सहानुभूति, सहासीपन, क्षमावान एवं स्नेहयुक्त गुणों की वृद्धि करता है।

2. वात पित्त एवं कफ का प्रभाव मानव शरीर में समयानुसार भी पड़ता है**,** दिन के समय पथ में प्रहर में कफ, मध्य में पित्त एवं दिन के अंत में वात का प्रभाव रहता है- **वायोऽहोरात्रिभुक्तानां तेऽन्तमध्यदीनाः क्रमात**। इसी प्रकार मानव शरीर में वृद्धावस्था में वात, युवावस्था में पित्त तथा बाल्यावस्था में कफ का का प्रभाव रहता है। बाल्यावस्था में बालक का भोजन मात्र दुग्ध होता है एवं वह अधिक गति नहीं करता तथा न ही उसे किसी बात की चिंता रहती है, अतः इस अवस्था में उसके शरीर में स्निग्ध, शीतादि गुणों से युक्त **कफ** की मात्र अधिक होती है। युवावस्था में शरीर का निर्माण अस्थि, मज्जा आदि धातुओं से निर्मित होता है, मुख्यतः रक्त का निर्माण इसी अवस्था में अधिक होता है, जिसमें **पित्त** की महत्त्वपूर्ण भोमिका होती है।वृद्धावस्था में शरीर में धातुओं की कमी होने लगति है। साथ ही शरीर में रुक्षता आने लगती है एवं वात का प्रभाव बढ़ जाता है।

3. मनुष्य के भोजन की प्रक्रिया इन त्रिदोषों का प्रभाव भी दृष्टीगत होता है। भोजन को खाते समय कफ की मात्रा एवं पाचन क्रिया में पित्त की एवं पाचन क्रिया के बाद अविशष्ठका परित्याग करवाने में वात की भूमिका रहती है। भोजन कफ के साथ मिलकर मुख में लार, जो की क्षार

होती है, के साथ मिलकर आमाशय में पहुँचता है। अमाशय में अम्ल के साथ क्षार का संयोग होने से वह भोजन को मृदु बना देता है। भोजन के पित्त में पहुंचने पर पित्त की प्रक्रिया हो प्रारंभ हो जाती है तथा यह भोजन को रस में परवर्तित कर देता है जिससे मज्जा, मांस, रक्त, वीर्य, मल, मूत्र आदि का निर्माण होता है।तत्पश्चात वात की प्रधानता से अविशष्ठपदार्थ मल, मूत्रादि पदार्थों का परित्याग होता है।

4.शरीर में वात आदि दोषों की कमी या अधिकता के कारण जठराग्नि भी प्रभावित होती है। वायु के विषमगति हो जाने पर पाचन की अवस्था कभी नियमित एवं कभी अनियमित होती है।पित्त की अधिकता के कारण कभी भोजन समय से पूर्व ही पच जाता है, जिससे पुनः भोजन की इच्छा जागृत होती है एवं दीर्घ काल में अत्यधिक भोजन करने से भार आदि में अनावश्यक वृद्धि होती है।

5.वात प्रकृति युक्त मनुष्य के उदर में यदि वायु के प्रभाव बढ़ने की स्थिति को **कोष्ठक्रूर** कहा जाता है। इस प्रकार की स्थिति में उसे मल का त्याग करने में कठिनाई होती है। अतः वात का प्रभाव कम करने हेतु पित्त की मात्रा की थोड़ी वृद्धि हेतु व्यक्ति को ओषधि लेने की सलाह दी जाती है-

कोष्ठ: क्रूरो मृदुर्मध्यो मध्य: स्यात्तै: समैरपि।

6.आयुर्वेद में तीनों दोषों की साम्यता ही स्वस्थ होने का आधार माना जाता है। इन तीनों दोषों की 07 प्रकृतियाँ होती हैं। बाल्यावस्था में जिसकी प्रकृति वात प्रकृति है उसे वात की वृद्धि करने वाले आहार से, पित्त प्रकृति वाले की प्रकृति को पित्त वृद्धि वाले आहार से,कफ प्रकृति वाले की प्रकृति कोकफ वृद्धि वाले आहार से परहेज करना चाहिए-

शुक्रार्त्तवस्थैजन्मादो विषेनेव विषक्रिये:।
तैश्च तिस्र: प्रकृतयो हीनमध्योत्तमा: पृथक्।।
समधातु: समस्तासु श्रेष्ठा निंदा द्विदोषज्ञा।।

7. सप्तधातुओं (रस, रक्त, माँस, मेदा, मज्जा, अस्थि, शुक्र) के निर्माण में कफ एवं पित्त की एवं त्रिमलों(मल, मूत्र एवं विष्ठा) की शरीर से निवृत्ति में वात की अहम् भूमिका होती है। शरीर के मूलक धारक इन तीनों दोषों के द्वारा तथा त्रिमलोंमें विकृति उत्पन्न हो जाती है, इस कारण ये दोष्य भी कहे गये हैं।

8.आयुर्वेद शास्त्र में तिक्त, कटु, कसाय, लवण, मधुर की उत्पति पंचमहाभूतों से मानी गयी है। एवं ये सभी त्रिदोषों के संयोग से शरीर में पोषण की वृद्धि करते हैं।

9.शरीर में वात दोष के **शारीरिक लक्षणों** में-क़ब्ज़ होना, गैस की समस्या, शरीर में पानी की कमी, सूखी और रूखी त्वचा, शरीर में लगातार दर्द बने रहना, मुह में खट्टा व कसैला स्वाद आना, कमज़ोरी व थकान,ओज की कमी, ठीक से नींद न आना, शरीर के अंगो में कंपन बने रहना, हमेशा भय एवं घबराहट महसूस होना, सामान्य से ज़्यादा ठण्ड लगना आदि होते हैं।एवं इसके **मानसिक लक्षणों** में जीवन के प्रति निराशा, चिंतित बने रहना, हमेशा अधीरता का भाव बने रहना, हर समय अपनी ज़िम्मेदारियों से भागते रहना, सब कुछ महत्वहीन लगना, लोगों से बात करने की इच्छा रहना,एकांत का भाव आदि होते हैं।

10. शरीर में वात दोष बढ़ने के भी विभिन्न कारण होते हैं, जिनमें-मल-मूत्र रोकने,छींक को रोकने,देर रात तक जागने की आदत, मुँह खोलकर रखने की आदत, सोते समय खर्राटे लेने की

वजह से, हमेशा चिंता में या मानसिक परेशानी में रहना, ज्यादा सेक्स करना, ज्यादा ठंडी चीजें खाना आदि प्रमुख हैं।

12. शरीर में वात दोष बढ़ने से शरीर में ऐठन बने रहना, कंपकपी, कमज़ोरी, पेट दर्द, मरोड़ होना, मांसपेशियों में थकान बनना, जोड़ों में दर्द बनना – खासकर घुटनों में (इसकी वजह से गठिया हो सकता है)शरीर में जकड़न, हर समय या अचानक से सिर दर्द होना, लगातार क़ब्ज़ की समस्या रहना आदि समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।

13. शरीर में पित्त के असन्तुलन से- अधिक भूख-प्यास लगना, सीने में जलन बनना – एसिडिटी, आँखेहाथों व तलवों में जलन बने रहना, सामान्य से बहुत गर्मी लगाना, हर समय पसीने आना, त्वचा से जुड़ी समस्याएँ होना जैसे – चेहरे पर दाने, मुहाँसे, फुंसी और अन्य समस्याएँ, पित्त की उल्टी, प्रकाश के प्रति अति संवेदनशीलता,शरीर से अथवा मुह से तीक्ष्ण गंध, बहुत ज्यादा सिर दर्द होना, जी मचलाना या उलटी जैसा मन होना, दस्त होने की समस्या, मुख में कड़वा स्वाद बने रहना, ज़्यादा गर्मी लगना आदि लक्षण दृष्टीगत होते हैं। इसके अतिरिक्त व्यावहारिक लक्षणों मेंबोल चाल उग्र होना, काम करने में चिड़चिड़ाहट होना, हमेशा गुस्सा आना, हर किसी के साथ आक्रामक होना, विवाद करने के लिए हर समय तैयार रहना आदि प्रमुख माने जाते हैं।

14. शरीर में कफ असंतुलन सेहर समय आलस्य, भारीपन होना, भूख न लगना – लेकिन फिर भी खाना लेते रहना, जी मचलना, उलटी आना, शरीर में पानी जमा हो जाना , जकड़न, बलगम बनना – इसकी वजह से अक्सर खांसी हो सकती है और नजले की शिकायत भी हो सकती है, मुँह में स्राव, साँस लेने में तकलीफ़ होना, – ऐसे में दमे की समस्या भी हो सकती है।अत्यधिक नींद आना जो कि आलस का सबसे बड़ा संकेत है, मुँह में मीठापन महसूस होना, अंगों का ढीलापन, सेक्स में समस्याएँ होना, आंखों और नाक से अधिक गंदगी का स्राव, शरीर में गीलापन महसूस होना, मल-मूत्र और पसीने में चिपचिपापन आदि। इसके अतिरिक्त व्यवहारिक लक्षणोंमें-दुःख का भाव बने रहना, काम में मन न लगना, दूसरों पर आश्रित रहना – ऐसे लोग खुद को हमेशा अकेला महसूस करते हैं, हमेशा खुद को दुसरो से कमजोर समझने का भाव, मन में लोभ जागृत होना आदि दृष्टीगत होते हैं।

उपाय—

आयुर्वेद में त्रिदोष सिद्धांत ब्रह्मांड के तीन तत्वों पर आधारित है- वायु,अग्नि एवं जल। यह तीन मूलभूत ऊर्जाएँ वात, पित्त एवं कफ के रूप में सभी शारीरिक कार्यों को नियंत्रित करती हैं। इनमें वात वायु का स्थान,पित्त अग्नि एवं जल का, तथा कफ जल एवं पृथ्वी का स्थान माना जता है। ये ऊर्जाएँ मनुष्यों में विभिन्न शारीरिकस्वभाव तथा बीमारियों के प्रति संवेदनशीलता के लिए उत्तरदायी हैं। अर्थात् हम कह सकते हैं की त्रिदोषों से हमारा शरीर आतंरिक रूप से प्रभावित होता है, किन्तु उसका प्रभाव हमें बाह्य रूप से दिखाई देता है। इन प्रभावों को दूर करने हेतु आयुर्वेद में कतिपय उपायों का वर्णन किया गया है, जिससे त्रिदोषों में साम्यता बनी रहे। ये उपाय निम्नलिखित हैं-

1. वात के संतुलन के लिए शरीर पर तेल से मालिश करना(विशेष रूप से तिल का तेल),गर्म एवं आरामदायक भोजन का सेवन तथा नियमित व्यायाम, नरम खाद्य पदार्थ, जामुन, केले,

आड़ू, पकी हुई सब्जियां, मांस, अंडे तथा दुग्ध के उत्पाद,एवं प्रोटीन युक्त आहार का सेवन करना चाहिए।

2. पित्त के संतुलन के **पित्त दोष को संतुलित रखने के**घी का सेवन जरूर करें। सबसे बेहतर गाय का घी हैं। गोभी,खीरा,गाजर,आलू,शिमला मिर्च और हरी पत्तेदार सब्जियों का सेवन करें। इसी प्रकार सभी तरह की दालों का सेवन करें।एलोवेरा जूस,अंकुरित अनाज,सलाद एवं दलिया आदि का सेवन करना चाहिए।

3. कफ के संतुलन के लिएशहद के साथ-साथ गर्मएवं मसालेदार भोजन का सेवन करना चाहिए साथ ही नियमित रूप से व्यायाम अवश्य करना चाहिए। इन अनाजों का सेवन करें – बाजरा, मक्का,गेंहूं,एवं सब्जियों मेंपालक,पत्तागोभी,ब्रोकली,हरी सेम,शिमला मिर्च,मटर,आलू,मूली,चुकंदर आदि का सेवन मुख्य रूप से करना चाहिए। इसके अतिरिक्त जैतून के तेल एवं सरसों के तेल का उपयोग, छाछ और पनीर का सेवन,(छाछ का सेवन दिन के समय ही करें।) तीखे और गर्म खाद्य पदार्थों का सेवन करें, ठन्डे खाने से परहेज करना चाहिए, सभी तरह की दालों को अच्छे से पकाकर खाएं, कच्चे खाने से दूरी बना कर रखें, नमक का सेवन, साधारण नमक की जगह सेंधा नमक का उपयोग एवं पुराने शहद का उचित मात्रा में सेवन करना चाहिए।

4. आयुर्वेद में विभिन्न प्रकार की हर्बल दवाइयाँ उपलब्ध हैं जो त्रिदोषों को संतुलित करने में मदद करती हैं। **पंचकर्म** (यह एक आयुर्वेद चिकित्सा है जो शरीर से विषाक्त पदार्थों को निकालने में मदद करती है।) **योग और ध्यान (**ये दोनों मन और शरीर को शांत करने और त्रिदोषों को संतुलित करने में मदद करते हैं)

इस प्रकार त्रिदोषों को संतुलित करना शरीर के स्वास्थ्य के लिए महत्वपूर्ण है। इसमें उचित आहार,जीवनशैली में परिवर्तन एवं विविध आयुर्वेदिक उपायों के द्वारा त्रिदोषों को संतुलित किया जा सकता है।

1.6 त्रिमल शब्द का अर्थ एवं स्वरुप

शरीर में पाचक अग्नि द्वारा भोजन के पाचानोपरांत भोजन के साररूप धातुओं एवं पोषकतत्त्वों का निर्माण होता है, एवं इन तत्त्वों के अवशिष्ठ भागों में मल, मूत्र एवं श्वेद(त्रिमल) को शरीर को मलिन करने के सन्दर्भ में भारतीय आयुर्वेद शास्त्र में **मल** की संज्ञा दी गयी है(**मालिनीकरानादाहारमलल्वान्मला। अष्टांग ह्रदय सूत्र 1/13)** शरीर केस्वास्थ्य हेतु इन पदार्थों का निष्कासन अति महत्त्वपूर्ण माना जाता है।इन त्रिमलों में भोजन के चयापचय क्रिया के बाद ऊतक कोषों द्वारा निकाले गए व्यर्थ पदार्थ, पाचन क्रिया के दौरान अतिजीर्ण, मृत या निर्जीव धातुएं अत्यधिक वायु पित्त एवं कफ दोष तथा शरीर हेतु अन्य हानिकारक तत्त्व शामिल होते हैं। इन त्रिमलों में मल, मूत्र तथा श्वेद में से किसी एक की अधिकता होने पर ये स्वभावतः शरीर के विसर्जक अंगों की ओर गतिकरने लगते हैं। इन त्रिमलों के अतिरिक्त नाख़ून, बाल, दाढ़ी-मूंछ, लोम(शरीर के छोटे बाल), नाक कान, आँख तथा मुख आदि से निकलने वाले सभी पदार्थ मल कहे गए हैं एवं इनमें मल अथवा पुरीष, मूत्र तथा श्वेद को ही त्रिमल की संज्ञा दी जाती है।

1.7 त्रिमलों का शारीरिक प्रभाव एवं उपाय

त्रिगुण एवं त्रिदोष की भांति ही त्रिमलों की साम्यता अथवा स्व-स्व कार्य करने की प्रक्रिया में यदि कोई विकृति उत्पन्न होती है, तो शरीर पर अन्तः व बाह्य प्रभाव दृष्टीगत होते हैं। त्रिमलों से शरीर पर पड़ने वाले प्रभावों को निम्नलिखित रूप में समझ सकते हैं

मल(पुरीष)—

शरीर में पुरीष का निर्माण भोजन के असार भाग तथा शरीर के ऊतकों द्वारा निर्मित किये गए व्यर्थ तत्त्वों के मिश्रण से होता है, इस पुरीष का शरीर से बाहर निकलना परम आवश्यक है इसका उचित प्रकार से विसर्जन न होने पर आँतों में कीट पनपने लगते हैं तथा पेट के रोगों के साथ-साथ कमरदर्द, आमवात, गृध्रसी, पक्षाघात लकवा तथा दमा जैसे रोग उत्पन्न हो जाते हैं साथ ही इसकी वृद्धि सेपेट में शूल, आँतों में गुड़गुड़ाहट तथा शरीर में भारीपन हो जाता है। अधिक भोजन खाने एवं अजीर्ण से पुरीष की मात्रा में वृद्धि होती है-**पुरीषमाटोपं कुक्षौ शूलं च। कुक्षावाध्यानमाटोपम गौरवं वेदनं शकृत**।

मूत्र—

मूत्र नामक त्रिदोष शरीर में अवशिष्ठ पदार्थों को अपने द्रव रूप में बाहर निर्गत है। यह आहार के असार अर्थात किट्ट या मल का तरल अंश होता है। यह शरीर की आवश्यकता से अधिक आर्द्रताको कम करता है। स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए ग्रीष्म तथा शीत रितु में दिन में पांच से छ: बार पानी पीने पर बल दिया जाता है ताकि व्यक्ति के मूत्र त्याग में में शरीर के शरीर के व्यर्थ पदार्थ भी निर्गत हो जांए। आयुर्वेद के अनुसार अत्यधिक मूत्र आना भी एक प्रकार के रोग को दर्शाता है,अधिक मात्रा में मूत्र आने पर गुदा मार्ग में दर्दसाथ ही शरीर में बैचैनी एवं भारीपन होने लगता है। मूत्र के कम मात्र में विसर्जन से मूत्र मार्ग में दर्द, मूत्र के पीला होना, रक्त मिश्रित मूत्र आना अधिक प्यास आना एवं मुँह सूखना आदि के लक्षण शरीर में दृष्टीगत होते हैं।

स्वेद—

त्रिमलों में मल (पुरीष) एवं मूत्र के सामान ही स्वेद भी एक प्रकार का मल है, जो मानव शरीर की त्वचा को स्वस्थ रखने के लिएमहत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है, क्योकि इस स्वेद के माध्यम से शरीर में उत्पन्न होने वाले निर्गत विभिन्न व्यर्थ पदार्थ के त्वचा के माध्यम से निर्गत होते हैं। स्वेद के माध्यम से शरीर का तापमान नियंत्रित रहता है। अधिक श्रम या व्यायाम या गर्मी के कारण पसीना अधिक आता है एवं वायु लगने से त्वचा की गर्मी से यह वाष्प रूप में उड़ जाता है, जिससे त्वचा का तापमान कम होता है। अधिक मात्रा में पसीना आने पर भी त्वचा में दुर्गन्ध एवं खुजली होने लगती है, किन्तु कम मात्रा में आने पर त्वचा में रूखापन एवं त्वचा का फटना, स्पर्श का उचित ज्ञान न होना एवं रोमावलियों का गिरना आदि लक्षण दृष्टीगत होते हैं।

उपाय—

त्रिगुण तथा त्रिदोष को संतुलित रखने वाले उपायों के साथ ही त्रिमालों में किसी भी प्रकार की विकृति के निवारण के विभिन्न उपायों आयुर्वेद शास्त्र में वर्णन उपलब्ध होता है, जिनमें कतिपय सूक्ष्म उपाय इस प्रकार हैं-हमेंअधिक एवं भारी द्रव्यों से युक्त भोजन को नहीं करना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार के भोजन को खाने से आमाशय में अवस्थित पित्त पर दबाब बनता है, जिससे भोजन आसानी से नहीं पचता। एवं वात की अधिकता होने पर भी पुरीष आसानी से निर्गत नहीं होता । अतःहमें हल्के एवं रस युक्त कोमल पदार्थों का सेवन करना चाहिए।मूत्र नामकदोष के निर्गत हेतु अधिक से अधिक पानी का सेवन करना चाहिए, क्योंकि मूत्र के साथ

अन्य सूक्ष्म अवशिष्ठ पदार्थो का निष्कासन भी हो जाता है। मनुष्य को भोजन करने के साथ ही परिश्रम या खूब व्यायाम करना चाहिए।ताकि त्वचा के माध्यम सभी सूक्ष्म अवशिष्ठ पदार्थ निर्गत हो जाते हैं।

1.8 त्रिगुण त्रिदोष एवं त्रिमल ,की अवधारणा

आयुर्वेद के मुख्य सिद्धांतों में त्रिगुण, त्रिदोष तथा त्रिमल की व्याख्या प्राचीन है।**वेदों**(ऋग्वेद के उपवेद आयुर्वेद)में त्रिगुण शरीर के मानसिक तथा भावनात्मक स्वास्थ्य को नियंत्रित करते हैं, जबकि त्रिदोष शरीर के शारीरिक स्वास्थ्य को नियंत्रित करते हैं। त्रिगुण तथा त्रिदोष के मध्य का संबंध शरीर, मन तथा प्रकृति के बीच के संबंध को उजागर करता है। त्रिमल के बारे में यह माना जाता है कि वे शरीर में अवशिष्ठ के रूप में होते हैं, जिनका शरीर को स्वस्थ रखने में शरीर से निर्गत होना आवश्यक है। इसी प्रकार **भारतीय दर्शन** में, त्रिगुण, त्रिदोष तथा त्रिमल तीनों महत्वपूर्ण अवधारणाएं हैं जो शरीर, मन तथा आत्मा के बोध हेतु आवश्यक हैं। त्रिगुण-सत्व, रज तथा तम, ब्रह्मांड एवं मानव प्रकृति के आधार हैं, जबकि त्रिदोष-वात, पित्त और कफ, शरीर की तीन ऊर्जाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। त्रिमल, पसीना, मूत्र और मल, शरीर के अपशिष्ट उत्पाद हैं। **गीता के 14वें अध्याय गुणत्रय विभाग योग** में श्रीकृष्ण कहते हैं कि प्रकृति सत्व, रजस, एवं तमस तीन गुणों से निर्मित है तथा मानव शरीर, मन एवं बुद्धि जो प्राकृत शक्ति से बने हैं, उनमें भी तीनों गुण विद्यमान होते हैं,जो हमारे व्यावहारिक स्वरूप का निर्धारण करते हैं। सत्व गुण शांत स्वभाव, सद्गुण तथा शुद्धता को चित्रित करता है, रजो गुण अन्तहीन कामनाओं तथा सांसारिक आकर्षणों के लिए अतृप्त महत्वाकांक्षाओं में वृद्धि करता है एवं तमो गुण भ्रम, आलस्य, नशे और निद्रा का कारण है। प्रबुद्ध मनुष्य सदैव संतुलित रहते हैं और वे संसार में तीन गुणों के कार्यान्वयन को देखकर व्यक्तियों, पदार्थों तथा परिस्थितियों में प्रकट होने वाले उनके प्रभाव से विचलित नहीं होते। वे सभी पदार्थों को भगवान की शक्ति की अभिव्यक्ति के रूप में देखते हैं जो अंततः उनके नियंत्रण में होती है। इसलिए सांसारिक परिस्थितियाँ न तो उन्हें हर्षित और न ही उन्हें दुखी कर सकती हैं। इस प्रकार बिना विचलित हुए वे अपनी आत्मा में स्थित रहते हैं। **उपनिषदों** में, त्रिगुण का अर्थ है सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण से है एवं इन गुणों को प्रकृति तथा मानव व्यवहार का निर्धारक कहा गया है। इस प्रकार वेदों, पुराणों, गीता दर्शन आदि में वर्णित त्रिसिद्धांतों का उल्लेख परवर्ती आयुर्वेद एवं योग आदि ग्रंथों में भी हुआ है, जिनके माध्यम से मनुष्य को समय- समय पर चिकित्सा पद्धति में त्रिसिद्धांतों से मानव शरीर पर पड़ने वाले प्रभावों एवं उनके उपचार का ज्ञान भी होता रहा है।

1.9 सारांश

आयुर्वेद के त्रिगुण- सत्त्व, रज एवं तमप्रकृति की साम्यावस्था की वह शक्ति है जो मनुष्य के व्यवहार को नियंत्रित एवं परिवर्तित करती है। इन त्रिगुणों से मनुष्य तीव्र, दुःख एवं उदासीनता का अनुभव करता है साथ ही पञ्चमहाभूतों के अंश से निर्मित (एक दोष का जन्म दो महाभूतों के मेल से माना गया है-**वात दोष**-वायु व आकाश, **पित्त दोष**-अग्नि व जल, **कफ दोष**-पृथ्वी व जल)मनुष्य शरीर में व्याप्त त्रिदोषों-वात, पित्त एवं कफ के साथ संयोजन कर मनुष्य के शरीर को गतिमान रखते हैं। इन दो त्रि-सिद्धांतों के संयोजन से गतिमान रहते हुए शरीर में त्रिमल आदि भी व्यवस्थित रूप से क्रियाशील रहते हैं।अर्थात यह तीनों-त्रिगुण, त्रिदोष एवं त्रिमल हमारे शरीर में संतुलित मात्रा में उपस्थित रहते हैं, किन्तु इन तीनों में

किसी भी तत्त्व के विकृति की स्थिति में शरीरिक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। इस प्रकार प्रस्तुत इकाई में हमने त्रिगुण शब्द का अर्थ एवं स्वरुप त्रिगुणों का कार्य त्रिदोष शब्द का अर्थ एवं स्वरुप, त्रिदोषों का कार्य,त्रिदोषों का शारीरिक प्रभाव एवं उपाय, त्रिमल शब्द का अर्थ एवं स्वरुप, त्रिमलों का शारीरिक प्रभाव एवं उपाय, त्रिगुण, त्रिदोष एवं त्रिमल का परिचय एवं मूलभूत अवधारणा आदि के विषय में जाना।

1.10 शब्दावली

वात	वायु
स्वेद	त्वचा से निर्गत पसीना
पुरीष	मल आदि अवशिष्ठ पदार्थ
पंचकर्म आयुर्वेद चिकित्सा	शरीर के विषाक्त पदार्थों के निगत की विधि
साम्यावस्था	संतुलित अवस्था
कोष्ठक्रूर	उदार में वात वृद्धि की स्थिति

बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1.निम्न में त्रिगुणों में समिल्लित नहीं है-

क.सत्त्व ख. रज ग.पुरीष घ.तम

2. चरक संहिता के रचनाकार हैं-

क.आचार्य चरक ख.वाग्भट्ट ग.सुश्रुत घ. एकचारी सगरनंदी

3.गीता के किस अध्याय में त्रिगुण स्वरुप का वर्णन किया गया है?

क.11वां ख.10वां ग.12वां घ.14वां

4.निम्न में से कफ का एक भेद नहीं है-

क.आरोचक ख.तर्पक ग.बोधक घ.अवलम्बक

5. निम्न में से पित्त का एक भेद नहीं है-

क.आरोचक ख.तर्पक ग.साधक घ.भ्रामक

6. आयुर्वेद में वात के कितने भेद कहे गए हैं-

क.चार ख.पांच ग.छ: घ. तीन

रिक्त स्थान-

1. मूत्र एवं श्वेद को शरीर को मलिन करने के सन्दर्भ में भारतीय आयुर्वेद शास्त्र में (त्रिमल) .....की संज्ञा दी गयी।
2. ..... एक आयुर्वेद चिकित्सा है जो शरीर से विषाक्त पदार्थों को निकालने में मदद करती है।
3. शरीर में का निर्माण भोजन के असार भाग तथा शरीर के ऊतकों द्वारा निर्मित ..... है किये गए व्यर्थ तत्त्वों के मिश्रण से होता।
4. शारीरिक ताप को नियंत्रित कर त्वचा को सुन्दर बनाने का कार्य .....करता है।

सत्य/असत्य

1. भारतीय दर्शन में, त्रिगुण, त्रिदोष तथा त्रिमल तीनों महत्वपूर्ण अवधारणाएं हैं जो शरीर, मन तथा आत्मा के बोध हेतु आवश्यक हैं। ( )

2. सप्तधातुओं- रस, रक्त, माँस, मेदा, मज्जा, ऊतक, त्वचा आते हैं। ( )

3.अधिक मात्रा में पसीना आने पर भी त्वचा में दुर्गन्ध एवं खुजली होने लगती है, किन्तु कम मात्रा में आने पर त्वचा में रूखापन एवं त्वचा का फटना, स्पर्श का उचित ज्ञान न होना एवं रोमावलियों का गिरना आदि लक्षण दृष्टीगत होते हैं। ( )

4.वात का कार्य विक्षेप अर्थात् शारीरिक गतियों का सञ्चालन एवं नियंत्रण करना नहीं है ( )

1.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बहुविकल्पीय प्रश्न

1.ग.पुरीष

2. क.आचार्य चरक

3.घ.14 वां

4.क.आरोचक

5.ख.तर्पक

6. ख.पांच

रिक्त स्थान-

1.मल

2.पंचकर्मा

3.पुरीष

4.भ्राजक पित्त

सत्य/असत्य

1. सत्य

2. असत्य

3. सत्य

4. असत्य

1.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.संस्कृत शास्त्रों का इतिहास-उपाध्याय बलदेव, हिमालयन प्रेस गणेश सोसाइटी वाराणसी

2.वाग़भट्ट कृत अष्टांगहृदय पर आधारित "स्वदेशी चिकित्सा"- दीक्षित राजीव, स्वदेशी प्रकाशन सेवाग्राम वर्धा (गुजरात) सं0 २०१२

3.आयुर्वेद सिद्धांत रहस्य- आचार्य बालकृष्ण, पाण्डेय प्रेमदत्त द्वारा संपादित।

4.अग्निवेश प्रणीत चरक संहिता- अनुवादक, गुप्ता अत्रिदेव जी, भार्गव पुस्तकालय गायघाट बनारस।

5.वाग़भट्ट कृत अष्टांगहृदय-श्री कृष्णलाल, मुंबई प्रकाशन महाराष्ट्र।

1.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. शारीरिक स्वास्थ्य में त्रिदोषों की उपादेयता को स्पष्ट कीजिये।
2. त्रिगुण शब्द का अर्थ बताते हुए उसके स्वरुप को स्पष्ट कीजिये।
3. त्रिदोष के भेद व उपभेदों की विवेचना कीजिये।
4. त्रिमलों की शारीरिक क्रिया की विवेचना कीजिये।
5. त्रिसिद्धान्तों की मूलभूत अवधारणा को स्पष्ट कीजिये।

इकाई-2 पंचमहाभूत, सप्त धातु एवं त्रयोदाशाग्नि का परिचय एवं मूलभूत अवधारणा

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 पंचमहाभूत का अर्थ एवं स्वरुप
2.4 पंचमहाभूत का कार्य प्रभाव एवं महत्त्व ,
2.5 सप्तधातु एवं त्रयोदशाग्नि का अर्थ एवं स्वरुप
2.6 सप्तधातु एवं त्रयोदशाग्नि का कार्य प्रभाव एवं महत्त्व ,
2.7 पंचमहाभूत सप्तधातु एवं त्रयोदशाग्नि सम्बंधित अवधारणा ,
2.8 सारांश
2.9 शब्दावली
2.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
2.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
2.12 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

भारतीय ज्ञान परंपरा के आधार स्तम्भ वेद विश्व की सभी ज्ञान-विज्ञान के अक्षय उत्स हैं, उन्हीं ज्ञान व अनुशीलनात्मक विषयों में प्रमुख आयुर्वेद- विज्ञान है, जो मनुष्य के शारीरिक व मानसिक रोगों एवं उनके उपचार की विवध औषधीय पद्धतियों के माध्यम से व्याख्या करता है। इस दृष्टी हमारे प्राचीन आर्ष कवियों ने विविध सिद्धान्तों का प्रणयन किया जो उनके शास्त्रीय ग्रंथो में उपनिबद्ध हैं।इन सिद्धांतों में त्रिदोष, त्रिमल, त्रिगुण के अतिरिक्त पंचमहाभूत, सप्तधातु एवं त्रयोदाशाग्नि सिद्धांत भी प्रमुख हैं, जो मानव की अन्तः क्रियाओं में प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से सम्बंधित हैं।प्रस्तुत इकाई के अंतर्गत हम पंचमहाभूतों में- आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी का अर्थ एवं स्वरुप, उनकी शारीरिक प्राणी जगत के निर्माण में भूमिका, विविध सप्त धातुएं एवं उनका कार्य, त्रयोदाशाग्नि का अर्थ, प्रभाव व कार्यों का विवेचनात्मक अध्ययन करेंगे।

2.2 उद्देश्य

- प्रस्तुत इकाई में आप आयुर्वेद के प्रमुख सिद्धांतों में पंचमहाभूतसप्तधातु तथा , के विषय में जानेंगे त्रयोदाशाग्नि के अर्थ एवं स्वरुप।
- प्रस्तुत इकाई में आपपंचमहाभूतसप्तधातु तथा त्रयोदाशाग्नि का हमारे शरीर के साथ , उनके प्रमुख कार्य एवं महत्त्व को जानेंगे ,सम्बन्ध।
- इस इकाई में आप पंचमहाभूतसप्तधातु तथा त्रयोदाशाग्नि के सम्बन्ध में विभिन्न , अवधारणाओं को जानेंगे।

2.3 पंचमहाभूत का अर्थ एवं स्वरुप

पञ्चमहाभूत भारतीय दर्शन एवं विज्ञान के साथ-साथ भारतीय आयुर्वेद का एक महत्वपूर्ण सिद्धांत है, जो विश्व के सभी स्थावर-जंगम द्रव्य एवं मानव शरीर का निर्माण करने वाले पांच मूल तत्वों की विवेचना करता है। ये तत्व-**आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी है** । भू धातु में **क्त** प्रत्यय से निष्पन्न भूत शब्द से अभिप्राय सत्तावान या विद्यावान है। अर्थात् मानव शरीर भी इन पाँच तत्वों की सत्ता है। शरीर के विभिन्न भागों और कार्यों में इन तत्वों का अलग-अलग अनुपात तथा प्रभाव होता है। उदाहरण के लिए, जल तत्व शरीर के तरल पदार्थों में पाया जाता है, जबकि पृथ्वी तत्व हड्डियों और मांसपेशियों में पाया जाता है, इसी प्रकार अन्य तत्त्व भी। आचार्य सुश्रुत ने पञ्चमहाभूतों से मानव शरीर निर्माण के विषय में कहा है कि चेतनावस्थित शुक्र- शोणित के संयोगभाव में विभाजन क्रिया वायु से, पाक-क्रिया तेज से, क्लेदन(आर्द्र स्थिति में रहने की) क्रिया में जल से, संहनन(ठोस स्थिति में बरतने की) क्रिया में पृथ्वी से तथा वृद्धि की क्रिया आकाश से संभव होती है- **तं चेतनावस्थितं वायुर्विभजति, तेज एनं पचति, आपः क्लेदयन्ति, पृथ्वी संहन्ति, आकाशं विवर्धयति। (सुश्रुत शा०5/3)**।

आकाश-आकाश अर्थात् रिक्त या व्योम आदि पर्याय नामों से अभिधेयित आकाश तत्त्व को भारतीय दर्शन व आयुर्वेद में प्रथम तत्व माना जाता है।दार्शनिक ग्रंथों में आकाश को **शब्दात्त्वम्आकाशः** कहा गया है।दर्शन में आकाश तत्त्व की मीमांसा में उसे अन्य तत्त्वों(वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी)का उत्पादक कहा गया है। आकाश का गुण शब्द है अतः वह गर्भाश्रय में मनुष्य की शारीरिक वृद्धि के साथ-साथ उसमें शब्द को विकसित करता है एवं यह शब्द मनुष्य के परा, पश्यन्ति, मध्यमा तथा वैखरी में विकसति होता है।

वायु-दार्शनिक ग्रंथों में वायु को**स्पर्शवान् वायु** कहागया है।वायु को समस्त ब्रह्माण्ड का प्राण तत्त्व कहा गया है। यह विश्व के सभी जैविक द्रव्य पदार्थो में गति या उर्जा का संचरण करता है।वायु गर्भाश्रय मानव शरीर के निर्माण के समय शुक्र-शोणित कणों की विभाजन क्रिया के साथ-साथ वात आदि के संतुलन का निर्धारण करता है।

अग्नि- सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का उर्जा एवं तेज प्रदाता वायु तत्त्व कहा गया है।दार्शनिक ग्रंथों मेंअग्नि को**उष्णस्पर्श्वत्तेज**:कहा गया है।यह गर्मी, प्रकाश एवं ऊर्जा का प्रतिनिधित्व करता है, तथा विश्व की सभी वस्तुओं को तप्त एवं सक्रिय रखता है। पृथ्वी पर सभी द्रव्य पदार्थ इसी तेज तत्त्व के माध्यम से वृद्धि तथा अंत गति को प्राप्त होते हैं। तेज तत्त्व के तीन भेदों (बड़वानल, दवानल, जठरानल) मेंमनुष्य के उदर में जठरानल के माध्यम से ही पाचक क्रिया संभव होती है।यह तत्त्व पाचक क्रिया को सम्पूर्ण करने के पश्चात रक्त आदि में भी तप्त गुण को विकसित करता है। अग्नि तत्त्व मनुष्य शरीर के निर्माण से पूर्व शुक्र से लेकर मानव शरीर की अंतगति तक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करता है।इस दृष्टी से भारतीय आयुर्वेद में अग्नि तत्त्व को जीवनदायक तत्त्व कहा गया है।

जल-भारतीय दर्शन एवं विज्ञान में जल सर्वाधिक पूजनीय एवं पवित्र माना जाता है एवं उसे **शीतस्पर्श्वताप:** कहा गया है। पृथ्वी के विकास से पूर्व वह जल में स्थिर थी एवं प्रथम जीवों की उत्पत्ति का अधार जल तत्त्व ही था।जल विश्व के सभी तरल पदार्थों का प्रतिनिधित्व करता है, जो शरीर को हाइड्रेटेड रखता है और सभी जैविक प्रक्रियाओं के लिए आवश्यक है। जल का गुण रस है एवं वह मनुष्य की जीह्वा में षड् रसों के रूप में निहित होता है। मनुष्य जन्म से पूर्व गर्भ में जल अत्तव के माध्यम से क्लेदन(आर्द्र स्थिति में रहने की) क्रिया संभव होती है।

पृथ्वी-जीवन को धारण करने वाली सभी दशाओं से युक्त पृथ्वी तत्त्व को दर्शन व आयुर्वेद में **तत्र गंधवती**कहा गया है।यह तत्त्व सभी ठोस पदार्थों अस्थि, मज्जा आदि का प्रतिनिधित्व करता है, शरीर को स्थिरता प्रदान करने वाले पदार्थों की संरचना में पृथ्वी तत्त्व की भूमिका मानी जाती है।

2.4 पंचमहाभूत का कार्य, प्रभाव एवं महत्त्व

भारतीय आयुर्वेद के अनुसार विश्व के सभी स्थावर जंगम द्रव्य एवं प्राणियों के शरीर का निर्माण पंचमहाभूतों से होता है। इनमें संसार के विविध चेतन व अचेतन पदार्थों की संरचना का निर्धारण पञ्चभूतों की समष्टि अर्थात् पंचीकृत भूतों से निर्मित होता है, परिणाम स्वरुप उनमें सर्वत्र पंचभूतों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध नामक गुणदृष्टीगतहोते हैं।पञ्चभूतों से उद्भूत पदार्थ आत्मा से सम्बंधित इन्द्रिय व्यापार के दृष्टीगत होने से कुछपदार्थ चेतन तथा इन्द्रिय व्यापार के आभाव में कुछ पदार्थ जड़ पदार्थ कहलाते हैं। आचार्य चरक ने इस तथ्य की ओर संकेत किया है-

सर्वं द्रव्यं पञ्चभौतिकमस्मिन्नर्थे तच्चेतनावदचेतनं च।

तस्य गुणा: शब्दादयो गुर्वादयश्च द्रवान्ता।।

पञ्चभूतों से परिवृत या समाविष्ट जड़-चेतन के भेद प्रतिपादक रूप आधुनिक विज्ञान के समस्त लक्षण आचार्य चरक द्वारा सेंद्रिय तथा निरिन्द्रिय पद में सम्मिलित किया है-**सेंद्रिय चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनं।** निदर्शन रूप में-घट पदार्थ का निर्माण **पृथ्वी** तत्त्व अर्थात् मिट्टी, **जल**, **तेज** अर्थात् अग्नि, **वायु** एवं **आकाश** के संयोग से संभव है। इसी प्रकार बीज से अंकुरोत्पत्ति की क्रिया में मिट्टी, जल, ऊष्मा(गर्मी) अथवा प्रकाश, प्राणभूत वायु एवं रिक्त स्थान पौधे के तने,

पत्तियों आदि में सूक्ष्म छिद्रों की उपस्थितिका कारक आकाशतत्त्व की भूमिका रहती है ।यही प्रक्रिया मानव शरीर के निर्माण में रहती है, जिसका पूर्व में उल्लेख किया गया है।भारतीय दार्शनिक ग्रंथो में जिस प्रकार जड़ एवं चेतन जगत की उत्पत्ति पंचमहाभूतों के समिश्रण के परिणाम का उल्लेख है, उसी प्रकार आयुर्वेद में भी शरीर एवं शरीर के मूल आधारों- दोष, धातु, मल, की उत्पत्ति पंचमहाभूतों से निर्मिति का विवेचन उपलब्ध होता है-**पञ्चभूतात्मके देहे आहारः पंचभौतिकः। विपक्वः पंचधा सम्यक गुणान स्वानाभिवर्धयेत।।** (सू०सू० 46/526)इस आधार पर हम कह सकते हैं कि सभी द्रव्यों में पंचभूतों की प्रधानता के साथ-साथ किसी एक की भी प्रधानता रहती है। इनके कार्य निम्न रूप में समझ सकते हैं-

1. आकाश भूत प्रधानता वाले द्रव्य **आकाशीय**, वायुभूत प्रधानता वाले द्रव्य **वायव्य**, अग्निभूत प्रधानता वाले द्रव्य **आग्नेय**, आप भूत प्रधानता वाले **जलीय**,पृथ्वीभूत प्रधानता वाले सभी पदार्थ **पार्थिव** कहलाते हैं। ये सभी द्रव्य अपने गुणों के अनुरूप ही यह प्राणीगत शरीर के निर्माण में सहायक होते हैं।**आकाशीय प्रधानता** वाले द्रव्य कोमल, हल्के, समतल एवं शब्दादि गुण से युक्त होते हैं ये शरीर में कोमलता, लघुता, चंचलता एवं छिद्रों आदि का विकास करता है। **वायव्य प्रधानता** वाले द्रव्य हल्के, शीतल, खुरदरे, चिपचिपे, सूक्ष्म तथा स्पर्श गुण से युक्त होते हैं ये शरीर में घृणा, वृत्ति, गति, चिपचिपापन एवं उत्साह व स्फूर्ति को जागृत करना है।**तैजस प्रधानता** वाले द्रव्य गर्म, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, हल्के,रूक्ष एवं रूप सौन्दर्य के गुणों से युक्त होते हैं।इनका कार्य चयापचय शक्ति, त्वचा में चमक एवं रंग की वृद्धि करना है। **आप्य या जलीय** द्रव्य तरल, स्निग्ध, ठण्डे, कोमल, स्निग्ध, दृढ़ता, नमीयुक्त गुणों से युक्त होते हैं। यह शरीर में कोमलता एवं आनद की वृद्धि करते हैं। **पार्थिव प्रधानता** वाले द्रव्य दृढ, स्थूल व गंध से युक्त होते हैं। यह शरीर में मोटापा, दृढ़ता, वजन एवं स्थूलता में वृद्धि करना है।

2. पंचभौतिक द्रव्यों के गुणों एवं शरीर की रचना के आधार पर दृष्टीगत होता है कि शरीर में मुख्यतः पृथ्वी एवं जल- ये दो महाभूत मुख्य रूप से विद्यमान हैं। शरीर का ठोस भाग पृथ्वी एवं द्रव भाग जल से,शेष भाग आकाश तथा आंशिक भाग वायु से निर्मित होता है।इसके अतिरिक्त जो भोज्य द्रव्य हम ग्रहण करते हैं, उनको पचाकर रस, रक्त, अस्थि, मज्जा आदि धातुओं में परवर्तित करने का कार्य अग्नि महाभूत करता है। साथ ही मानसिक चेष्टाओं का शरीर में विकास वायु महाभूत के कारण होता है।

3. शरीर में विद्यमान **त्रिदोष**(वात, पित्त एवं कफ), **धातु**(रस, रक्त, अस्थि, मज्जा आदि) एवं **मल**(मल, मूत्र तथा श्वेद) का निर्माण पञ्चमहाभूतो से होता है।

4.जिन खाद्य द्रव्यों से शरीर का पोषण होता है, उनका निर्माण भी पंचमहाभूतों से होता है, परिणाम स्वरुप ये शरीर में रस, गुण, वीर्य तथा विपाक आदि के रूप में दृष्टीगत होते हैं।

आयुर्वेद के पञ्चमहाभूत सिद्धांत में कार्य द्रव्यों का पार्थिव भेद, शरीर के विभिन्न धातुओं का संगठन, इनसे त्रिगुण(सत्त्व, रज, तम), त्रिदोषों(वात, पित्त, कफ) तथा त्रिमलों(मल, मूत्र, श्वेद) का निर्माण, षड रसों (तिक्त, कटु, कषाय, लवण, मधुर, अम्ल) का निर्माण, भ्रूण का विकास आदि सभी का उल्लेख होने से यह सिद्धांत वर्तमान समय में अति उपादेय है। इसी के माध्यम से हमें शारीरिक असंतुलन को उत्पन्न करने वाले विविध कारकों एवं उनके उपचारों का ज्ञान होता है। आयुरवेद में यदि केवल पञ्चमहाभूत सिद्धांत का व्यापक एवं विवेकपूर्ण गहन अनुशीलन किया जाय तो किसी अन्य सिद्धांत की जानने की अपेक्षा नहीं रह जाती।उपनिषदों में भी कहा गया है-**एकेन ज्ञातेन सर्वमिदं ज्ञात भवति।**

2.5 सप्तधातु एवं त्रयोदशाग्नि का अर्थ एवं स्वरुप

एते शरीर धरणाद् धातव इत्युन्तन्ते के अधार पर मानव शरीर को धारण करने वाली ऊर्जात्मक शक्ति केकारण आयुर्वेदशास्त्र में इन्हें "धातु" पद से अभिधेयित किया जाता है।शरीर के निर्माण में इनकी प्रमुख भूमिका होती है, शरीर को पोषण प्रदान करने वाले तत्त्वों का निर्माण इन्ही धातुओं से होता है, इन्हीं धातुओं को मोलिक ऊतक कहा जाता है। इन धातुओं का सृजन पञ्चमहाभूतों के माध्यम से होता है तथा किसी न किसी धातु में एक महाभूत की प्रधानता रहती है-**तत्र वायोर्वायुरेव योनिः पित्तस्थाग्निः कफस्थापः रक्तं माँस पार्थिव, मेदा जलपृथ्व्यात्मकय, अस्थि पृथ्व्यतिलात्यंक, मज्जा शुक्रं चाप्यम्।(सू० सं० 14/11)** आयुर्वेद में शरीर को पोषण प्रदान करने वाली इन धातुओं की की संख्या 07 मानी जाती है-रस, रक्त, माँस, मेद, अस्थि, मज्जा एवं शुक्र। इन धातुओं का निर्माण भी आकाशादि (आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी)की भाँति- रस से रक्त, रक्त से माँस, माँस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा एवं मज्जा से शुक्र के सामान होता है।इन धातुओं को निम्नलिखित रूप में समझा जा सकता है-

रस धातु-मनुष्य के द्वारा खाए गए भोजन का जठराग्नि के माध्यम से पाचन के पश्चात सारभूत तत्त्वों से ही रस धातु का निर्माण होता है। सम्पूर्ण शरीर में व्यान वायु द्वारा शरीर का स्नेहन, जीवन तर्पण को रस धातु के द्वारा धारण किया जाता है।

रक्त धातु-मानव शरीर में रस धातु की अग्नि आदि क्रियाओं के पश्चात रस धातु रूप रक्त वर्ण में परिणत हो जाने पर रक्त धातु का निर्माण होता है। रक्त धातु प्राणदाता धातु कहा गया है एवं प्राचीन आयुर्वेदाचार्यों ने इस धातु को **रक्तम् जीवं इति स्थिति** कहा है। रक्त धातु शरीर के वर्ण के साथ-साथ माँस धातु का निर्माण करता है।

माँस धातु-मानव के स्वस्थ शरीर का ४१% भार माँस धातु के कारण ही निर्धारित होता है।"माँस शरीरं पुष्टि मेदसश्च पुष्टिं करोति"अर्थात् माँस धातु शरीर की पुष्टि के साथ ही मेद धातु का निर्माण भी करता है।

मेद धातु-मेद से तात्पर्य शरीर में व्याप्त अतिरिक्त वसा या चर्बी से है। मेद की अधिकता के कारण शरीर स्थूल बना रहता है एवं श्रमशीलता का आभाव पाया जाता है। मेद धातु शरीर को श्वेद, स्नेह, कोमलता, दृढ़ता एवं उष्णता प्रदान करने के साथ ही अस्थियों को पुष्ट करता है-**मेदः स्नेह श्वेदौ दृढ़त्वं पुष्टिमथनांच करोति।**

अस्थि धातु-मानव शरीर की संरचना का निर्माण अस्थि धातु से होता है। हमारे शरीर की माँस पेशियाँ अस्थि धातु से ही सन्निबद्ध होती है, अस्थि धातु मानव शरीर को धारण एवं सुदृढ़ करने के साथ ही मज्जा धातु का निर्माण करती है-**अस्थिनी देहधारणं मज्जः पुष्टि च।**

मज्जा धातु-आयुर्वेद के अनुसार मज्जा धातु दो प्रकार की मानी गई हैं- पीत्मज्जा तथा लाल मज्जा। पीत्मज्जा धातु नलिकायुक्त अस्थियों तथा लाल मज्जा धातु गर्भ में शिशु की अस्थियों के विवर में विद्यमान होता है। इस प्रकार मज्जा धातु सभी प्रकार के अस्थियों का स्नेहन, शुक्र का पोषण एवं अस्थियों के विवर छिद्रों के भरण के साथ ही बल, शुक्र एवं रसादि का निर्माण करती है-**बलशुक्ररसश्लेष्मेदमज्जविवर्धनः। मज्जा विशेषोऽस्थे च बलहत् स्नेहने मतः।**

शुक्र धातु-पुरुष शरीर में व्याप्त शुक्र धातु स्फटिक आभा से युक्त द्रवित, स्निग्ध आदि गुणों के सदृश होता है, इस धातु को मनुष्य के प्रारम्भिक जीवन का आधार माना जाता है। शुक्र धातु के

कारण ही शरीर में धैर्य निडरता, विपरीत लिंग के प्रति आकर्षण उत्साह, पुष्टि, सम्भोग समय आनंदानुभूति प्रमुख कार्य माने जाते हैं।

त्रयोदशाग्नि-आयुर्वेद के अनुसार आहार रूप में हम जिन प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, वसा, विटामिन आदि तत्त्वों का सेवन का सेवन करते हैं, इन्हीं तत्त्वों के माध्यम से शरीर में पुष्टि, बल, वर्ण, दीर्घायु की वृद्धि होती है, किन्तु ये तभी संभव होता है जब बाहरी प्रोटीन आदि युक्त पदार्थशरीर के आन्तरिक तत्त्वों में परिवर्तित हो जाएँ एवं इस परिवर्तन की क्रिया को संपन्न करने वाला तत्त्व **"अग्नि"** तत्त्व कहा गया है। अग्नि तत्त्व द्वारा संपन्न की गई यह क्रिया चयापचय कहलाती है-

बलमारोग्यमायुश्च प्राणाश्च प्राणाश्चाग्नौ प्रतिष्ठिता:।
अग्नौ प्रतिष्ठिता इति अग्न्यार्था: प्राणारिति वायवः।
यदन्नं देहधात्वोजोबल्वर्णादिपोषकम्
तत्राग्निर्हेतुराहन्न ह्यपक्वाद् रसोदयः ।।

चयापचय की क्रिया को संपन्न करने वाली 13 प्रकार की अग्नि में प्रथम प्रकार की अग्निको **जठराग्नि** द्वितीय प्रकार की **सात अग्नि धात्विक अग्नियाँ** तथा तृतीय प्रकार की **पांच भूताग्नियाँ** आयुर्वेद शास्त्र में प्रसिद्ध हैं-

1.जठराग्नि-इस अग्नि को पाचक अग्नि भी कहा जाता है। यह आमाशय एवं पक्वाशय अर्थात् छोटी आंत एवं बड़ी आंत के बीच नाभि प्रदेश में अवस्थित रहती होती है। भोजन रूप में हमारे द्वारा जिनते भी पदार्थ आहार रूप में लिए जाते हैं, उस भोजन को शीघ्र ही यह अग्नि सूक्ष्म खण्डों में परिवर्तित कर देती है। यह अग्नि पाक क्रिया द्वारा प्रारंभिक परिवर्तन कर आयु, वर्ण, स्वर, बल, उर्जा, उत्साह, ओजस, शारीरिक ताप में वृद्धि के साथ-साथ अन्य अग्नियों को भी क्रियाशील रखने में सहायक होती है।जठराग्नि के सुचारू रूप से क्रियाशील रहने में चार आवस्थाओं का साम्य होना आवश्यक है-

क. विषमाग्नि-जठराग्नि की इस अवस्था में अग्नि कभी तेज तथा कम हो जाती है, जिसके कारण भोजन का पाचन कभी मंद, कभी तीव्र एवं कभी शीघ्र हो जाता है, अग्नि की यह स्थिति वायु दोष के कारण होती है। इसके परिणामस्वरूप पेट में शूल, कब्ज, जलोदर, पेट में भारीपन, आँतों में गुड़गुड़ाहट आदि की विकृति उत्पन्न हो जाती है-

विषमो धातुवैषम्यं करोति विषमं पचन्।
तीक्ष्णो मन्देन्धनो धातून् विशोषयति पावकः।।
युक्तं भुक्तवतो युक्तो धतुसाम्यं समं पवन्।
दुर्बलो विदहत्यन्न तद्यात्यूर्ध्वमधोऽपि वा।।

ख. तीक्ष्णाग्नि-जठराग्नि की यह अवस्था अत्यधिक तीव्र होती है। यह अधिक मात्रा में खाए हुए अन्न का समय से पाचन कर लेती है, इस अग्नि को आयुर्वेद में भस्मक अग्नि के नाम से भी जाना जाता है, जठराग्नि की यह अवस्था पित्त दोष की अधिकता के कारण होती है, जिसमें रोगी के गले, होंठों तथा तालु में शुष्कता(सूखापन) उत्पन्न हो जाता है एवं भोजन पाचन के बाद यह अग्नि गले में शोष एवं दाह, होंठों में सूखापन एवं दाह एवं तालु में जलन एवं संताप को उत्पन्न कराती है।

ग. मन्दाग्नि-जठराग्नि की इस अवस्था में अग्नि बहुत मंद होती है एवं पित्तदोष की अधिकता के कारण यह कम खाए हुए भोजन को भी ठीक प्रकार से पचा नहीं पाती, जिसके परिणाम

स्वरुप पेट एवं शिर में भारीपन, खाँसी, श्वास, मुंह से लार, वमन(उल्टी) एवं कमजोरी आदि दोष उत्पन्न होते हैं।

घ.समाग्नि-इस प्रकार की जठराग्नि समय पर उचितमात्रा में खाए हुए भोजन का पाचन कर लेती है एवं यह अवस्था जठराग्नि में तीनो दोषों(वात, पित्त एवं) की साम्यता के कारण होता है, जिसके परिणाम स्वरुप व्यक्ति शरीर में पुष्टता एवं उचित स्वस्थता का अनुभव करता है।

2.पञ्च भूताग्नियाँ-आयुर्वेदिक शास्त्रों में पांच प्रकार की भूताग्नियों का उल्लेख उपलब्ध होता है-**भौमाग्नि, आप्याग्नि, आग्नेयाग्नि, वायव्याग्नि** एवं **आकाशाग्नि**। ये पञ्च भूताग्नियाँ जठराग्नि द्वारा सूक्ष्म रूप में परिवर्तित खाद्य पदार्थ को शरीर के अनुरूप सजातीय रस में परिवर्तित करती हैं। पंचाग्नियों का इस समूह से यकृत में विद्यमान अन्य अग्नियों के संयोग से भोजन को पांच श्रेणियों में विभाजित हो जाता है, जिसमें पञ्च भूत की प्रधानता होती है एवं ये सभी मिलकर शरीर का निर्माण तथा उसका पोषण करते हैं।

3.सप्त धत्वाग्नियाँ-अग्नियों में तृतीय प्रकार का समूह सप्त धात्वग्नियाँ का है। यकृत में पंचमहाभूत के रूप में परिवर्तित हुए भोजन अन्नरस धात्वाशयों (रसवह,रक्तवह आदि स्रोतों) में पहुँचता है, वहां विद्यमान अग्नियाँ इसका पुनः पाचन करती हैं।इससे यह भोज्य पदार्थ रस, रक्त आदि धातुओं में परिवर्तित हो जाता है। ये धातुएँ संख्या में सात होती हैं एवं इन्ही धातुओं की सात अग्नियाँ कही गई हैं-**रसाग्नि, रक्ताग्नि, माँसाग्नि, मेदाग्नि, अस्थ्यिाग्नि, मज्जाग्नि एवं शुक्राग्नि।** ये भी पाचन क्रिया में सक्रिय रहती हैं एवं खाद्य पदार्थों से स्व-स्व पोषक तत्त्वों को ग्रहण कर उसे रस, रक्त, मज्जा, माँस, अस्थि आदि में परिवर्तित करती हैं।

इस प्रकार त्रयोदाशाग्नि का यह समूह शरीर का पोषण करने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इनके कार्य, प्रभाव एवं महत्त्व के विषय में अगले अध्याय में वर्णन किया जाएगा।

2.6 सप्तधातु एवं त्रयोदशाग्नि का कार्य प्रभाव एवं महत्त्व ,

आयुर्वेद में सप्तधातु (रस, रक्त, माँस, मज्जा, मेद, अस्थि एवं शुक्र) एवं त्रयोदाशाग्नि (जठराग्नि, पञ्चभूताग्नि एवं सप्तधत्वाग्नि) का कार्य शरीर को पोषण एवं पुष्ट करना है। पूर्वोक्त अध्याय में इनके अर्थ एवं स्वरुप के सम्बन्ध के विषय में वर्णन किया गया जिसमें इनके अर्थ एवं स्वरुप प्रतिपादन के साथ इनके कार्य संबंधी तथ्यों का तिरोभाव हो जाता है। अब इनके प्रभाव एवं महत्त्व के सम्बन्ध में निम्नलिखित रूप से समझ सकते हैं-

1.रस धातु सस्म्पूर्ण शरीर में स्नेहन एवं जीवन को धारण करने का कार्य करती है किन्तु कदाचिद रस धातु की कमी या अधिकता के कारण यह शरीर में पाचन क्रिया में दोष उत्पन्न करने के साथ-साथ शरीर में शिथिलता, श्वशन क्रिया में अवरोध, थकान, रूखापन, हृदयरोग, पीलापन, दुर्बलता केशों का सफ़ेद होना आदि रोगों को उत्पन्न कर लेती है। **रक्त** धातु माँस धातु का निर्माण करती है। स्वस्थ व्यक्ति का रक्त न अधिक गाढ़ा, न पतला एवं न अधिक पतला होता है। अतः रक्त का सामान्य रहना उचित होता है। रक्त की कमी एवं अधिकता के कारण रक्त कैंसर, रक्तपित्त, रक्तप्रदर, कोठ, पीलिया, वातरक्त इत्यादि रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

2.माँस धातुका कार्य शरीर की पुष्टि एवं सुरक्षा के साथ-साथ मेद धातु का निर्माण करना है। माँस धातु में वृद्धि से शरीर भारी, स्थूल एवं विकृत आकार का प्रतीत होता हैतथा कमी के कारण दुबलापन एवं शुष्क होता है।माँस वृद्धि के लिए वसा युक्त भोजन एवं कमी के लिए योगाभ्यास आदि करना चाहिए।

3.मेद धातु शरीर को स्नेहन, कोमलता तथा अस्थियों को मजबूत करने का कार्य करती है।मेद धातु की कमी से सूखापन,जोड़ों का दर्द, अधिक श्वेद आना, कंठ एवं तालु का शुष्क होना इत्यादि लक्षण दृष्टीगत होते हैं। मेद धातु की वृद्धि से स्थूल काय को सामान्य बनाने हेतु योगाभ्यास एवं व्यायाम करना चाहिए तथा मेद की कमी में घृत तथा दूध को आहार रूप में लेना चाहिए।

4.मानव शरीर की संरचना में **अस्थि** धातु की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।किन्तु अस्थियों की अधिकता के कारण शरीर में पीड़ा, शमश्रु, नाखुनों में विकार एवं कमी के कारण जोड़ों में पीड़ा, दांतों का टूटना इत्यादि समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं। अस्थि धातु की वृद्धि में तिक्त पदार्थों का सेवन कम करना चाहिए एवं कमी में दूध, दही, पनीर आदि के सेवन के साथ-साथ प्रातःकालीन सूर्य की किरणों का ताप लेना चाहिए ।

5.मज्जा धातु का मुख्य कार्य अस्थियों का स्नेहन, शुक्र का पोषण एवं अस्थियों के विवर छिद्रों को भरना है।मज्जा धातु की वृद्धि से शरीर में फोड़े, मूर्च्छा, आँखों से सम्बंधित रोग उत्पन्न हो जाते हैं तथा कमी आदि से हड्डियों का खोखलापन एवं उनका टूटना आदि समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं। अतः मज्जा के क्षय होने पर मज्जा प्रधान से युक्त खाद्य पदार्थों का सेवन करना चाहिए।

6.शुक्र धातु शरीर के प्रारम्भिक निर्माण का आधार होता है। शुक्र धातु की वृद्धि के कारण कामवासना की अधिकता, अधिक स्खलन तथा कमी के कारण शारीरिक दुर्बलता, लिंग में जलन एवं सम्भोग के समय शुक्र का श्राव न होना, जिस कारण मनुष्य में नपुंसकता आदि की समस्याएं उत्पन्न हो जाती है।

अतः शुक्र की कमी होने पर संतुलित आहार का सेवन करना चाहिए।

7.जठराग्नि का कार्य पाचक क्रिया के साथ-साथ अन्य द्वादश अग्नियों (पंचभूत एवं सप्तदश) को क्रियाशील रखना है। उदर में अवस्थित यह उसकी चार अवस्थाओं-विषम, तीक्ष्ण, मंद एवं समाग्नि। पर निर्भर है।**विषम** अग्नि की कभी तीव्र तथा कभी कम गति के कारणपेट में शूल, कब्ज, जलोदर,पेट में भारीपन, आँतों में गुड़गुड़ाहट आदि समस्याएं उत्पन्न कर देती हैं।**तीक्ष्ण** अवस्था में भोजन तीव्र गति से पाचता है एवं इसके परिणाम स्वरुप गले में सूखापन, ओठ लगना तथा अत्यधिक गर्मी का अनुभव होने लगता है।**मंद** अवस्था के कारण भोजन धीमी गति से पचता है जिससे पेट एवं शिर के अंगों में भारीपन, वमन होना आदि समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं। जठराग्नि की सम अवस्था में भोजन उचित मात्र में पचता है एवं तीनों दोषों की साम्यता के कारण शरीर स्वस्थ रहता है।

8.पञ्च एवं सप्त भूताग्नियाँ एक दूसरे का संयोग कर शरीर को पुष्टता एवं पोषण प्रदान करने का कार्य करती हैं। ये समस्त अग्नियाँ यदि नष्ट हो जाएँ तो शरीर भी नष्ट हो जाता है। अतः इन सभी को सुचारू रूप में क्रियाशील रहने हेतु मनुष्य को पौष्टिक तथा उचित मात्रा में स्वच्छ खाद्य पदार्थों का सेवन करना चाहिए।

2.7 पंचमहाभूत, सप्तधातु एवं त्रयोदशाग्नि सम्बंधित अवधारणा

पञ्चमहाभूत, सप्तधातु एवं त्रयोदाशाग्नि से सम्बंधित अवधारण आयुर्वेद परंपरा में अति प्राचीन है-इसमें प्राणिजगत के शरीर के जन्म, पालन तथा अंत अवस्था में इन सभीपंचमहाभूत, सप्तधातु एवं त्रयोदशाग्निके संयोग तथा विघटन क्रिया का अति महत्त्व है।वेदों, पुराणों, दार्शनिक ग्रंथों-सांख्य, श्रीमद्भगवत गीता आदि ग्रंथों में जहाँ एक ओर पञ्च महाभूतों एवं सूक्ष्म, कारण एवं स्थूल शरीर तथा इन्द्रिय, मन आदि का उल्लेख किया गया है वहीं दूसरी

ओर आयुर्वेद में इन पंचमहाभूतों(**आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी)** से शरीर के निर्माण एवं उसका पोषण करने वाली विभिन्नत्रयोदाशाग्नि में सप्त(**रसाग्नि, रक्ताग्नि, माँसाग्नि, मेदाग्नि, अस्थि्याग्नि, मज्जाग्नि एवं शुक्राग्नि**।) एवं पञ्च महाभूताग्नियों(**भौमाग्नि, आप्याग्नि, आग्नेयाग्नि, वायव्याग्नि** एवं **आकाशाग्नि**।)का अध्ययन किया जाता है।मनुष्य के त्रिविध दुखों आध्यात्मिक, आदिभौतिकतथा आदिदैविक दुख भी कहीं न कहीं इन सभी भूतों एवं तत्वों से प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित रहते हैं। इनका विवेचन जहाँ दर्शन व गीता आदि ग्रंथो का विषय है वही दूसरी ओर आयुर्वेद इन सभी दुखों की चिकित्सा की मीमांसा करता है। आयुर्वेद की परंपरागत उपर्युक्त विषयों से सम्बंधित अवधारणा प्राचीन होने के साथ-साथ वैज्ञानिक भी है- मनुष्य द्वारा खाए गए अन्न को उदर में जठराग्नि, पंचभूताग्नियों, सप्तधातु अग्नि की क्रियाशील प्रक्रिया इसका उपयुक्त उदाहरण है, जिसका उल्लेख पूर्व में किया गया है।

2.8 सारांश

मनुष्य की त्रिविध दुखों की आत्यंतिक निवृत्ति का उपाय जिस प्रकार वेद एवं दर्शानादि ग्रंथों में विद्यमान है,उसी प्रकार आयुर्वेद में इन दुखों की चिकित्सा मीमांसा की गई है। उसमें भी प्रथम आदि भौतिक दुखों के विविध उपचार आयुर्वेदिक ग्रंथों में उल्लेखित हैं, आदि भौंतिक दुखों को मनुष्य प्रकृति के वातावरण में रहते हुए भोगता है एवं भोगने की शक्ति को धारण करने वाला उसका शरीर है।अर्थात् भौंतिक दुखों का प्रथम उपचार या समाधान होने पर व्यक्ति स्वतः ही मानसिक रूप से सुदृढ़ होता है। शरीर के स्वस्थ रहने पर ही अन्तः मनोगत समस्याओं के निराकरण करने वाली शक्ति को शरीर धारण करता है। इस दृष्टी से प्रस्तुत इकाई में हमने आयुर्वेद में त्रिमल, त्रिदोष, पंचभूत, सप्तधातु एवं त्रयोदशाग्निका अर्थ एवं उनका स्वरुप तथा आपस में सह-सम्बन्ध, उनके कार्य, प्रभाव व महत्त्व के साथ-साथ उनकी भारतीय ज्ञान परम्परा को पुष्ट करने वाले वेद, दर्शन, श्रीमद्भगवत गीता आदि में उद्भूत अवधारणा का अध्ययन किया ।

2.9 शब्दावली

तीक्ष्ण	तीव्र
जठराग्नि	यकृत की अग्नि
मेद	वसा या चर्बी
पार्थिव	पृथ्वी भूत प्रधानता वाले तत्त्व
गंधवती	गंध वाली पृथ्वी
भौमाग्निपृथ्वी	भूत अग्नि
मज्जा अस्थियों के विवर	छिद्रों में विद्यमान पदार्थ
अस्थि्याग्नि	अस्थियों का पोषण करने वाली अग्नि

अभ्यास प्रश्न

बहुविकल्पीय

1.निम्न में से एक सप्त धातुओं में से नहीं है-

क.रस ख.रक्त ग.मज्जा घ.ऊतक द्रव्य

2.निम्न खाए-पीये अन्न को पचाने वाली अग्नि है-

क.जठराग्नि ख. वायव्यग्नि ग. पार्थिवाग्नि घ. तेजाग्नि

3.मानव शरीर का निर्माण करने वाली धातु कहलाती है-

क. रस ख.शुक्र ग.मज्जा घ.ऊतक द्रव्य

4.त्रयोदाशाग्नियों में अग्नियों में तृतीय प्रकार का समूह क्या कहलाता है?

क. जठराग्नि ख.पञ्च भूताग्नि ग.सप्त धात्वाग्नि घ.इनमे से कोई नहीं

5.किस अग्नि के विषम गति के कारण पेट में शूल, कब्ज, जलोदर, पेट में भारीपन, आँतों में गुड़गुड़ाहट आदि की विकृति उत्पन्न हो जाती है-

क. जठराग्नि ख.तीक्ष्णग्नि ग.समाग्नि घ.विषमाग्नि

रिक्तस्थान

1.....अवस्था के कारण भोजन धीमी गति से पचता है जिससे पेट एवं शिर के अंगों में भारीपन, वमन होना आदि समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं।

2.अस्थियों का स्नेहन, शुक्र का पोषण एवं अस्थियों के विवर छिद्रों को भरने काकार्य.....करती है।

3.मानव शरीर में धात्वग्नियों की संख्या.....है।

4. अस्थिनी..... मज्जः..... च।

5. शीतस्पर्श्वताप: लक्षण है.....।

सत्य/असत्य

1.शरीर का निर्माण करने वाली पञ्चमहाभूत धातुएँ होती हैं।( )

2.शरीर में विद्यमान अग्नियों की संख्या 15 है।( )

3.मनुष्य के त्रिविध दुखों आध्यात्मिक, आदिभौतिक तथा आदिदैविक दुख भी कहीं न कहीं इन सभी भूतों एवं तत्वों से प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित रहते हैं।( )

4.मनुष्य के द्वारा खाए गए भोजन का जठराग्नि के माध्यम से पाचन के पश्चात सारभूत तत्त्वों से ही रक्त धातु का निर्माण होता है। ( )

5.धातुओं की सात अग्नियाँ कही गई हैं-रसाग्नि, रक्ताग्नि, माँसाग्नि, मेदाग्नि, अस्थ्यिाग्नि, मज्जाग्नि एवं शुक्राग्नि। ( )

2.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बहुविकल्पीय

1. घ.ऊतक द्रव्य
2. क.जठराग्नि
3. ख.शुक्र
4.ग.सप्त धात्वाग्नि
5. घ.विषमाग्नि

रिक्तस्थान

1.मन्दाग्नि
2.मज्जा
3.सात
4.देहधारिणी, पुष्टि
5.जल का

सत्य/असत्य

1.सत्य

2.असत्य

3.सत्य

4.असत्य

5.सत्य

2.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.संस्कृत शास्त्रों का इतिहास-उपाध्याय बलदेव, हिमालयन प्रेस गणेश सोसाइटी वाराणसी

2.वाग़भट्ट कृत अष्टांगहृदय पर आधारित "स्वदेशी चिकित्सा"- दीक्षित राजीव, स्वदेशी प्रकाशन सेवाग्राम वर्धा (गुजरात) सं0 २०१२

3.आयुर्वेद सिद्धांत रहस्य- आचार्य बालकृष्ण, पाण्डेय प्रेमदत्त द्वारा संपादित।

4.अग्निवेश प्रणीत चरक संहिता- अनुवादक, गुप्ता अत्रिदेव जी, भार्गव पुस्तकालय गायघाट बनारस।

5.वाग़भट्ट कृत अष्टांगहृदय-श्री कृष्णलाल, मुंबई प्रकाशन महाराष्ट्र।

2.12 निबंधात्मक प्रश्न

1.पञ्चमहाभूतों के अर्थ स्वरुप एवं कार्य को स्पष्ट कीजिये।

2.त्रयोदाशाग्नि के अन्तः शारीरिक कार्यों का उल्लेख कीजिये।

3.आयुर्वेद में सप्त धातु सिद्धांत की विवेचना कीजिये।

4.शरीर निर्माण में पंचभूतों का की भूमिका को स्पष्ट कीजिये।

5.मानव शरीर में पंचभूत, सप्तधातु एवं त्रयोदाशाग्नि की कार्य प्रणाली का उल्लेख कीजिये।

इकाई-3 औषधीय वृक्षों के गुण

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 औषधीय वृक्षों का महत्त्व
3.4 औषधीय वृक्षों के गुण एवं उपयोग
3.4.1 आयुर्वेदिक औषधीय मसालों के गुण एवं उपयोग
3.4.2 औषधीय वृक्षों के गुण एवं उपयोग
3.5 सारांश
3.6 पारिभाषिक शब्दावली
3.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
3.9 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

प्रिय शिक्षार्थियों !

भारतीय ज्ञान परम्परा में प्रमाण-पत्र कार्यक्रम (CCIKS-24) चिकित्सा विज्ञान (Indian Medical Science) नामक पाठ्यक्रम के खण्ड द्वितीय से सम्बन्धित यह तृतीय इकाई है। इस खण्ड में औषधीय वृक्षों के गुणों के स्वरूप का वर्णन किया गया हैं। इस इकाई में आप औषधीय वृक्षों के आयुर्वेदिक गुणों का अध्ययन करेंगे।

प्रस्तुत इकाई औषधीय वृक्षों के गुण से सम्बन्धित है। औषधीय वृक्षों का उपयोग पूर्वकाल से ही पारंपरिक चिकित्सा पद्धतियों में एवं अनुसंधान के लिए किया जाता रहा हैं। वेदों में असंख्य औषधीय वृक्षों की दवाओं का वर्णन है। औषधीय पौधों का प्रयोग दवाओं के संग्रह के लिया किया जाता रहा है। इस इकाई में आप औषधीय वृक्षों के गुण एवं उपयोग का भली-भाँति अध्ययन करेंगे।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप—

- औषधीय वृक्षों के महत्त्व को जान सकेंगे।
- औषधीय वृक्षों के गुण एवं उपयोग के विषय में अवगत हो सकेंगे।
- औषधीय वृक्षों के आयुर्वेदिक गुणों से अवगत हो सकेंगे।

3.3 औषधीय वृक्षों का महत्त्व

प्राचीनकाल से ही मनुष्य रोग से बचाव एवं उपचार के लिये विभिन्न प्रकार के पौधों का उपयोग करता आया है। पौधों की जड़ें, तने, पत्तियाँ, फूल, फल, बीज और यहाँ तक कि छाल का उपयोग भी उपचार के लिये किया जाता है। पौधों का यह औषधीय गुण उनमें उपस्थित कुछ रासायनिक पदार्थों से होता है जिनकी मानव शरीर पर विशिष्ट क्रिया होती है। मुख्य औषधीय पौधे एरगोट, एकोनाइट, मुलेठी, जलाप, हींग, मदार, सिया, लहसुन, अदरक, हल्दी, चंदन, बेलाडोना, तुलसी, नीम, अफीम, क्वीनाइन, इत्यादि हैं। औषधीय पौधों का आज आयुर्वेदिक और सिद्ध दवाओं में बहुत उपयोग किया जाता है। ये हानिरहित हैं और घर पर आसानी से उगाए जा सकते हैं।

3.4 औषधीय वृक्षों के गुण एवं उपयोग

औषधीय वृक्षों का मानव स्वास्थ्य पर महत्वपूर्ण प्रभाव होता है, और इनका उपयोग प्राचीन काल से विभिन्न रोगों के उपचार के लिए किया जाता रहा है। आयुर्वेदिक औषधियॉ इस तथ्य पर आधारित है कि मानव शरीर में भौतिक तथा आत्मिक सभ्यता आवश्यक है। इस साभ्यता को विभिन्न विधियों से सम अवस्था में रख सकते हैं तथा इसको सम रखना आवश्यक भी है। दोषों को सम अवस्था में रखने के लिए भोजन के साथ विभिन्न मसालों का प्रयोग करना चाहिए भोजन में प्रयोग होने वाले मसाले ऊष्ण या शीत होते हैं जो कि पाचन तंत्र को सुचारू रखते हैं। एक मसाले में छः रसों में से कोई एक या अधिक रस हो सकते है। ये है मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय। प्रायः मसाले कटु रस प्रधान सुगंधित तेलों से युक्त हुए होते हैं जो कि विभिन्न मसालों के वृक्षों के फल, त्वचा, मूल, बीज, तना, छाल आदि होते हैं। इनका प्रयोग भोजन को सुगंधित व सुस्वाद बनाने के लिए होता है। आयुर्वेद में मसालों एवं औषधीय वृक्षों

का बहुत महत्व है। औषधीय मसालों एवं वृक्षों का महत्त्व स्वास्थ्यवर्धक गुणों के लिए अति महत्वपूर्ण है। नीचे कुछ प्रमुख औषधीय वृक्षों एवं मसालों के गुण और उनके उपयोगों के बारे में जानकारी दी जा रही है। इन औषधीय वृक्षों का सही और संतुलित उपयोग स्वास्थ्य लाभ प्रदान कर सकता है। हालांकि इनका उपयोग करने से पहले किसी आयुर्वेदिक विशेषज्ञ या डॉक्टर से परामर्श लेना भी उचित होगा।

3.4.1 आयुर्वेदिक औषधीय मसालों के गुण एवं उपयोग—

जड़ी-बूटियाँ और मसाले अपने औषधीय गुणों के लिए जाने जाते हैं और इनका प्रयोग प्राचीन काल से पारंपरिक दवाओं में किया जाता रहा है। कई जड़ी-बूटियों और मसालों के आवश्यक तेलों का उपयोग दवाइयों की तैयारी में किया जाता है। धनिया के आवश्यक तेल को एनाल्जेसिक, डिल और सौंफ के तेल को ज्वरनाशक, धनिया, अजवाइन, अजमोद और जीरे के तेल को सूजनरोधी बताया गया है। हाल ही में जीरे और तुलसी के आवश्यक तेलों में कैंसररोधी गुण पाए गए हैं, और इनका उपयोग कैंसरजनन के खिलाफ़ सुरक्षात्मक तत्व के रूप में किया जा सकता है। हर्बल मसालों के महत्वपूर्ण औषधीय गुणों का वर्णन नीचे दिया जा रहा हैं।

हल्दी—

यह तिक्त, कटु, कषाय रस वाला द्रव्य है। यह प्रमेह तथा अनूर्जता की अच्छी औषधि है। बहुमूत्रता, मधुमेह तथा त्वचा रोग में लाभकारी है। यह पाचन शक्ति को बढ़ाती है। अधिक खाने पर वात पित्तवर्धक तथा कफ हर है। अपने सक्रिय यौगिक करक्यूमिन के लिए जानी जाने वाली हल्दी एक शक्तिशाली सूजनरोधी और एंटीऑक्सीडेंट है जिसका उपयोग पारंपरिक चिकित्सा में गठिया और पाचन समस्याओं सहित विभिन्न स्थितियों को कम करने के लिए किया जाता है। हल्दी में मुख्य यौगिक करक्यूमिन है, जो अत्यंत एंटीऑक्सीडेंट है। करक्यूमिन हल्दी को एंटी-इंफ्लेमेटरी, एंटी-सेप्टिक और एंटी-कार्सिनोजेनिक गुण देता है और यहां तक कि इससे सौंदर्य लाभ निकालने में भी मदद करता है।

कालीमिर्च—

यह ऊष्णवीर्य कटु रस प्रधान औषधि है। यह पाचन शक्ति बढ़ाती है तथा पित्त की वृद्धि करती है। वात को चलायमान तथा कफ का छेदन (शरीर से निकालना) करती है। इसका वानस्पतिक नाम पाइपर नाइग्रम (Piper nigrum) है। इसका प्रयोज्य अंग बीज है।

उपयोग—

1. कफवातजन्य विकारों में लाभकर है।
2. नाड़ी दौर्बल्य, हृद्दौर्बल्य में उपयोगी है।
3. मूत्रकृच्छ, रजोरोध में लाभकर है।
4. प्रतिश्याय, कास, श्वास में उपयोगी है।
5. कुष्ठ, चर्मरोगों में लेप करते हैं।
6. शीतज्वर में इसका प्रयोग लाभकर है।

लौंग—

लवंग या लौंग ऊष्ण वीर्य औषधि है तथा पाचन में वृद्धि करती है। विभिन्न भोजन द्रव्यों में इसे स्वाद बढ़ाने एवं सुगंध बढ़ाने के लिए प्रयोग करते हैं। यह पित्त को बढ़ाता है तथा वात, कफ को कम करता है। इसका वानस्पतिक नाम- कारियोफालस् एरोमेटिकस् (Caryophyllus aromaticus) है। इसका प्रयोज्य अंग कली है।

उपयोग—

1. शिरःशूल तथा प्रतिश्याय में ललाट पर इसका लेप लगाते हैं।
2. मुख व कण्ठरोगों में चूसते है। दॉत दर्द में इसका लेप लाभदायक है।
3. अरुचि, अग्निमांद्य, उदरशूल, अम्लपित में लाभदायक है।
4. यह शुकस्तम्भन है। स्तन्यवृद्धि और स्तन्यशोधन के लिए उपयोगी है।
5. मूत्रकृच्छ, चर्मरागों तथा ज्वर में लाभदायक है।

धनियाँ—

कटु एवं कषाय रस प्रधान है। यह शीतलता प्रदान करता है। यह मधुर, तैलीय, शुष्क एवं लघु है। यह मूत्रदाह तथा कष्ट से मूत्र उतरने के लक्षण को कम करता है। भोजन के आभूषण की शक्ति को बढ़ाता है। वात एवं कफ की वृद्धि करता है तथा पित्त को शान्त करता है। इसका वानस्पतिक नाम केरिएण्डर सटाइवम् (Coriander Sativum) है। इसका प्रयोज्य अंग बीज और पत्र है।

उपयोग—

1. मुखपाक व गले के रोगों में इसके रस का गंडूष करते है। नासागत रक्तस्राव में इसका नस्य देते है।
2. इसका क्षीरपाक भ्रम, मूर्च्छा, स्मृतिहास में लाभकर है।
3. मूत्रकृच्छ, प्रमेह तथा ज्वर में लाभदायक है।

मेथी—

यह तिक्त एवं कषाय रस वाली है। यह रूक्ष तथा ऊष्ण वीर्य प्रधान मसालों में आती है जो कि ज्वर तथा वात रोगों को दूर करती है। अधिक मात्रा में लेने से यह वात तथा पित्त को बढ़ाती है तथा कफ को घटाती है। जोड़ों के दर्द तथा मधुमेह में लाभदायक है। इसका वानस्पतिक नाम- ट्राइगोनेल्ला फोएनम् (Triganella foenum graecum) है। इसका प्रयोज्य अंग पत्र, बीज है।

उपयोग—

1. वातशामक है। पीड़ा, शोथ विद्रधि में इसे पीसकर गर्म लेप लगाते है।
2. नाडीदौर्बल्य, अग्निमांद्य, शूल में चूर्ण प्रयोग करते हैं।
3. प्रसव के बाद स्तन्यवृद्धि के लिए प्रयोग किया जाता है।
4. दौर्बल्य में भी लाभकर है।

सौंफ—

सौंफ एक मसाला है। सौंफ का उपयोग मुंह को शुद्ध करने और घरेलू औषधि के रूप में होता आ रहा है। इसका पौधा लगभग एक मीटर ऊंचा तथा सुगन्धित होता है। इसका वानस्पतिक नाम फिनिक्यूलम् वलगेरी (foeniculum Vulgare) है। इसका प्रयोज्य अंग बीज है।

उपयोग—

1. वमन, तृष्णा, अजीर्ण, उदरशूल व प्रवाहिका में प्रयोग किया जाता है।
2. यह श्वास, कास, मूत्राघात, मूत्रकृच्छ में लाभकर है।
3. स्तन्याल्पता में तथा शुक वृद्धि के लिए प्रयुक्त होता है।

अजवाइन—

अजवायन (Thyme) एक झाड़ीनुमा वनस्पति है जो मसाला एवं औषधि के रूप में प्रयुक्त होती है। छोटे पैमाने पर इसकी खेती की जाती है। अजवायन मधुमक्खियों के लिए एक वरदान है। अजवायन मधुमक्खी में कई रोगों में काम आता है जैसे माइट, रोबिन फ़ास्ट वर्किंग जैसे काम करता हैं। इसका वानस्पतिक नाम ट्रेकीस्पर्मम् अम्मी (Trachyspermum ammi) है। इसका प्रयोज्य अंग बीज है।

उपयोग—

1. यह कफवात विकारों में प्रयुक्त होता है।
2. इसका लेप या तेल का अभ्यंग शोथ वेदनायुक्त विकारों में करते हैं। आध्मान में लेप या पोटली बना कर सकते हैं।
3. जीर्ण कास, श्वास में इसका चूर्ण देते है।
4. मूत्राघात कष्टार्तव तथा सूतिकारोग में उपयोगी हैं।
5. यह त्वक् दोषों में प्रयुक्त होता है।
6. उद्वेष्टन रोधी होने से उदर शूल में लाभकारी है, अजीर्ण से उत्पन्न विकारों में अजवायन चूर्ण एवं सेंधानमक मिलाकर देने से लाभ होता है।

इलायची—

यह मधुर एवं तीक्ष्ण स्वाद की औषधि है। यह शरीर में ऊष्णता प्रदान करती है तथा पाचन शक्ति को बढ़ाती है। यह हृदय के लिए उत्तम है तथा श्वास की दुर्गन्ध को दूर करती है। अधिक मात्रा में लेने पर यह पित्त को बढ़ाती है। यह वात एवं कफ को शान्त करती है।

जीरा—

यह तिक्त, कटु एवं कषाय रस प्रधान द्रव्य है यह उष्णता प्रदान करने वाली औषधि है तथा लघु तैलीय है। यह अतिसार को दूर करता है एवं पाचन शक्ति बढ़ाता है। यह पित्त को बढ़ाता है तथा एवं कफ का शमन करता है।

लहसुन—

यह कटु रस प्रधान तीक्ष्ण स्वाद की औषधि है। यह ऊष्ण वीर्य प्रधान है। यह तैलीय तथा गुरू होता है। वात रोग की अच्छी औषधि है। खाँसी को दूर करती है। यह पित्त को बढ़ाती है तथा वात कफ शामक है। रक्तगत कोलेस्टेरॉल को घटाता है।

अदरक—

कटु रस प्रधान एवं उष्ण वीर्य युक्त औषधि द्रव्य है। यह मधुर, शुष्क तथा रूक्ष है। भूख एवं पाचन शक्ति को बढ़ाता है। अधिक मात्रा में खाने से पित्त वर्धक है। यह वात एवं कफ का शमन करता है। अदरक में जिंजरोल होता है, जो इसे कई औषधीय गुण प्रदान करता है। शक्तिशाली एंटीऑक्सीडेंट, सूजन-रोधी और मधुमेह-विरोधी गुणों से भरपूर होने के अलावा, अदरक ऑस्टियोआर्थराइटिस (OA) में भी मदद करता है। अदरक मस्तिष्क की कार्यप्रणाली को बढ़ाता है और अल्जाइमर के खतरे को कम करता है, साथ ही यह संक्रमण के जोखिम को कम करने वाला एजेंट भी है। इस जड़ का उपयोग आमतौर पर पाचन में सहायता, मतली को कम करने और फ्लू और सामान्य सर्दी से लड़ने के लिए किया जाता है। इसमें एंटी-इंफ्लेमेटरी गुण भी मौजूद होते हैं। कच्ची अदरक को सेंधा नमक के साथ भोजन के प्रारम्भ में लेना चाहिए।

अलसी के बीज—

ओमेगा-3 फैटी एसिड और फाइबर से भरपूर, अलसी के बीज विविध स्वास्थ्य लाभ प्रदान करते हैं। उनकी ओमेगा -3 सामग्री हृदय स्वास्थ्य का समर्थन करती है, जबकि फाइबर पाचन और आंत स्वास्थ्य में सहायता करता है। अलसी के बीज के लिगनेन एंटीऑक्सीडेंट गुण प्रदान करते हैं, जो संभावित रूप से कैंसर के खतरे को कम करते हैं। वे कोलेस्ट्रॉल विनियमन, रक्त शर्करा नियंत्रण में भी योगदान देते हैं और अपने तृप्तिकारी प्रभाव के कारण वजन प्रबंधन में सहायता कर सकते हैं। अलसी के बीजों का नियमित सेवन समग्र स्वास्थ्य रखरखाव के लिए कई प्रकार के स्वास्थ्य लाभ प्रदान कर सकता है।

सरसों के बीज—

तीक्ष्ण उष्ण द्रव्य है यह तैलीय लघु एवं चरपरे स्वाद का है। यह माँसपेशियों की पीड़ा को दूर करता है। इसके बीज पित्तवर्धक है तथा वात एवं कफ को कम करते हैं।

केसर—

यह कषाय रस प्रधान तथा शीतवीर्य औषधि है। इससे अर्श में भी लाभ होता है। यह वात कफ वर्धक तथा पित्त नाशक है एवं बलकारक है।

लवण—

यह ऊष्ण, लवण, भारी, एवं रूक्ष है तथा रूचिकर एवं पाचन शक्ति वर्धक है। यह अधिक मात्रा में खाने पर उच्च रक्तचाप करता है तथा पानी का शरीर से उत्सर्जन कम कर देता है। यह वातहर तथा कफपित्त वर्धक है।

हींग—

हींग का उपयोग करी, सॉसों व अचारों में सुगन्ध लाने के लिए होता है। इसके प्रतिजैविकी गुण के कारण इसे दवाइयों में भी प्रयुक्त किया जाता है। इसका वानस्पतिक नाम फेरूला नारथेक्स (Ferula nartherx) है। इसका प्रयोज्य अंग निर्यास है।

उपयोग—

1. यह दीपन पाचन एवं वातानुलोमक है। आध्मान एवं उदर मूल में इसका उपयोग करते हैं।
2. आध्मान में उदर पर हींग का लेप करते हैं। श्वास कास में छाती पर लेप करते है।
3. रजः कृच्छ में तथा प्रसव के बाद देने से गर्भाशय शुद्ध होता है।
4. मूत्राघात, विषमज्वर तथा कण्डु में लाभप्रद है।

अश्वगंधा—

अश्वगंधा, एक एडाप्टोजेनिक जड़ी बूटी, असंख्य लाभ प्रदान करती है। इसके तनाव कम करने वाले गुण कोर्टिसोल के स्तर को प्रबंधित करने, विश्राम को बढ़ावा देने और संभावित रूप से चिंता और अवसाद को कम करने में सहायता करते हैं। इसके अतिरिक्त, यह प्रतिरक्षा को बढ़ाता है, ऊर्जा के स्तर को बढ़ाता है और संज्ञानात्मक कार्यों में सहायता करता है। अश्वगंधा की हार्मोन को संतुलित करने की क्षमता समग्र स्वास्थ्य पर इसके सकारात्मक प्रभाव में भी योगदान देती है।

हरे पत्तेदार मसाले—

कुछ वनस्पतियों भोजन को सुगंधित करने, सुरूचि पैदा करने उनकी स्वास्थ्यवर्धक शक्ति को बढ़ाने तथा उनके औषधीय गुण को बढ़ाने का कार्य करती है। उदाहरणार्थ धनियाँ के हरे पत्ते, पोदीना पत्र, मूलीपत्र, हरा प्याज आदि। ये गर्मी से कम प्रभाव व कम सुगंध वाले हो जाते है इसलिए इनको कच्चा ही ऊपर से भोजन के पकने के बाद डाला जाता है।

तुलसी—

भारतीय संस्कृति में तुलसी को पूजनीय माना जाता है, धार्मिक महत्व होने के साथ-साथ तुलसी औषधीय गुणों से भी भरपूर है। आयुर्वेद में तो तुलसी को उसके औषधीय गुणों के कारण विशेष महत्व दिया गया है। तुलसी ऐसी औषधि है जो ज्यादातर बीमारियों में काम आती है। इसका उपयोग सर्दी-जुकाम, खॉसी, दंत रोग और श्वास सम्बंधी रोग के लिए बहुत ही फायदेमंद माना जाता है। इसका वानस्पतिक नाम- ओसिमम (Ocimum Sanctum) है। इसका प्रयोज्य अंग पत्तियों व बीज है। यह हिमालय में 6 हजार फीट ऊँचाई तक होती है।

उपयोग—

1. उष्ण होने के कारण वातश्लैष्मिक विकारों जैसे खाँसी, ज्वर आदि में प्रयोग किया जाता है।
2. तुलसी के तेल में जन्तुघ्न, एंटी कैंसर, ज्वरध्न गुण पाये जाते हैं।
3. यह हृदय के लिए गुणकारी है तथा रक्तशोधक होने के कारण त्वचा से किया जाता है।
4. नेत्र विकारों में भी तुलसी का प्रयोग ब्राह्य व आभ्यान्तर दोनों प्रकार से किया जाता है।
5. इसके बीज मूत्रल व शुक्रल होने से इसका प्रयोग मूत्रकृच्छ व शुक्रमेह में किया जाता है।
6. प्राचीन काल से ही इसका प्रयोग विभिन्न विषों के निराकरण के लिए किया जाता है।

पुदीना—

भारत के राष्ट्रीय स्वास्थ्य पोर्टल के अनुसार, पुदीने के कई आहार संबंधी उपयोग और स्वास्थ्य लाभ हैं। यह सामान्य सर्दी, खांसी, मुंह और गले की सूजन, साइनस संक्रमण और श्वसन संक्रमण में उपयोगी है। पुदीना के अंदर कई पोषक तत्व पाए जाते हैं जैसे कि ऊर्जा, कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, नियासिन, विटामिन ए, विटामिन सी, सोडियम, पोटेशियम, आयरन, मैग्नीशियम और कैल्शियम आदि। इसका वानस्पतिक नाम- मेंथा स्पाइकेटा (Metha spicata) है। इसका प्रयोज्य अंग पंचाग, तेल है।

उपयोग-

1. पुदीना, रेचन, दीपन, होने के कारण अरूचि वमन आदि में प्रयोग किया जाता है।
2. यह वातानुलोमक वेदनास्थापन, दुर्गन्धनाशक जन्तुघ्न व व्रणरोपक है अतः दर्द वाले स्थानों में लेप चोट वाले स्थानों में लगाने व मुखदुर्गन्ध नाशन के लिए इसके स्वरस से कुल्ला करते है।
3. तीक्ष्ण, उष्ण होने से कफ वातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।
4. इसकी पत्तियों का क्वाथ बुखार, पेट के दर्द, कष्टार्तव व रजोरोध में उपयोगी है।
5. मुँह के छाले, मसूड़ों की सूजन व दॉत दर्द में भी यह लाभकर है।

धृत कुमारी—

घृत कुमारी या अलोवेरा/एलोवेरा, जिसे क्वारगंदल या ग्वारपाठा के नाम से भी जाना जाता है, एक औषधीय पौधे के रूप में विख्यात है। घृत कुमारी के अर्क का प्रयोग बड़े स्तर पर सौंदर्य प्रसाधन और वैकल्पिक औषधि उद्योग जैसे चिरयौवनकारी (त्वचा को युवा रखने वाली क्रीम), आरोग्यी या सुखदायक के रूप में प्रयोग किया जाता है। इसका वानस्पतिक नाम- एलोवीरा (Aloe vera) है। इसका प्रयोज्य अंग मूल, पत्र है। यह 5000 फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है।

उपयोग—

1. यह शोथहर और और वेदनास्थापन है। गलगण्ड में इसके मूल व पत्र का लेप करते हैं। इससे सिद्ध तेल का अभ्यंग दौर्बल्य और वातव्याधि में करते हैं।

2. यह मस्तिष्कशामक है अतः मूर्च्छा, भ्रम व अनिद्रा में प्रयुक्त होता है।
3. यह रक्त भार शामक होने से उच्चरक्तचाप में उपयोगी है।
4. बाजीकरण तथा गर्भाशयशोथहर होने से शुक्रदौर्बल्य, प्रदर तथा योनिशूल में दिया जाता है।
5. यह मूत्रल, कुष्ठध्न व उत्तम रसायन है।

शतावरी—

यह एक औषधीय गुणों वाला पौधा है। इसका उपयोग सिद्धा तथा होम्योपैथिक दवाइयों में होता है। जैसे- स्त्री रोग, प्रसव के उपरान्त दूध का न आना, बांझपन, गर्भपात आदि में किया जाता है। यह जोडों के दर्द एवं मिर्गी में भी लाभप्रद होता है। इसका उपयोग प्रतिरोधात्मक शक्ति बढाने के लिए भी किया जाता है। शतावर जंगल में स्वतः उत्पन्न होती है। चूंकि इसका औषधीय महत्व भी है अतः अब इसका व्यावसायिक उत्पादन भी है। इसकी लतादार झाडी की पत्तियां पतली और सुई के समान होती है। इसका फल मटर के दाने की तरह गोल तथा पकने पर लाल होता है। इसका वानस्पतिक नाम- एसपेरेगस रेसीमोसस (Asparagus racemosus) है। इसका प्रयोज्य अंग- कन्द है। यह हिमालय में 4000 फीट तक की ऊँचाई पर पाया जाता है।

उपयोग—

1. यह वातपित्त शामक है। इससे सिद्ध तेलों का प्रयोग शिरोरोग, वातव्याधि व दौर्बल्य में करते है।
2. यह शुकल गर्भपोषक व स्तन्यजनन है इसलिए शुकक्षय, गर्भक्षय, गर्भस्राव, रक्तप्रदर व स्तन्यक्षय में प्रयोग में लाया जाता है।
3. यह अम्लपित्त, शूल, ग्रहणी, अर्श व दौर्बल्य नाशक है।
4. छोटी माता होने पर इसके पत्तों का लेप दाह शमक का काम करता है।
5. सभी आयु की स्त्रियों के लिए बल्य व रसायन है।

भृंगराज—

यह एक औषधीय गुणों वाला पौधा है। आयुर्वेदिक विशेषज्ञों का मत है कि भृंगराज बालों और लीवर से जुड़ी समस्याओं के लिए लाभदायक है, क्योंकि इसमें केश्य गुण पाया जाता है। भृंगराज को केशराज भी कहते हैं, यह आयुर्वेदिक और औषधीय गुणों से भरपूर होता है। भृंगराज का इस्तेमाल करने से बालों की कई समस्याएं दूर होती हैं। इसका वानस्पतिक नाम - एक्लिप्टा एल्बा (Eclipta alba) है

उपयोग—

1. भृंगराज बालों के लिए और यकृत शोथ में मुख्यरूप से प्रयोग की जाने वाली औषधि है।
2. यह किडनी और लीवर की कारगर औषधि है। बालों का असमय सफेद होना, झड़ने में भृंगराज तैल का नियमित उपयोग लाभदायक होता है। अनिद्रा में भी तेल लाभप्रद है।
3. यह मूत्रल है अतः मूत्र दाह में लाभ करता है।
4. यह स्वेदजनन हैं तथा त्वक् विकारों में लाभकर है।
5. गर्भाशयगत रक्तस्राव तथा प्रसूतिजन्य गर्भशय शूल की यह उत्तम औषधि है।

छोटी इलायची—

भारत के घर-घर में गरम मसालों से लेकर खीर, हलवा आदि खाद्य पदार्थों में छोटी इलायची का प्रयोग किया जाता है। पान या फिर केवल लौंग के साथ भी छोटी इलायची का इस्तेमाल होता है। भोजन के बाद मुंह को सुगंधित करने के लिए भी इलायची के सेवन किया

जाता है। इलायची केवल एक सुगंधित मसाला ही नहीं है, बल्कि यह एक अच्छी औषधि भी है। यदि आप छोटी इलायची के फायदे को जान जाएं तो अनेक रोगों का स्वयं ही इलाज कर सकते हैं। छोटी इलायची एक सुगंधित मसाला है। इलायची का पौधा लगभग 10-12 फुट लंबा होता है जो समुद्र के किनारे वर्षभर पैदा होता है। यह पत्तेदार होता है। इसके पत्ते ऊपर से एकदम हरे, भाले के आकार के और दो फुट तक लंबे होते हैं। इसमें गुच्छों की तरह फल लगते हैं। सूखे हुए फल ही छोटी इलायची के नाम से जाने जाते हैं। इसका वानस्पतिक नाम- इलेटेरिया कार्डामोमम (Elettaria Cardamomum) है। इसका प्रयोज्य अंग बीज है।

उपयोग—

1. इलायची, मुखरोग, वमन, अरूचि, अग्निमांद्य में प्रयुक्त होती है।
2. यह श्वास व कास में भी लाभदायक है।
3. यह वातानुलोमक होने से उदर शूल तथा पेट के फूलने में भी प्रयोग की जाती है।
4. इसके बीजो का तेल पाचक तथा अम्लपित्त में लाभकर है।
5. यह नेत्रदाह, गलशोथ, श्वास तथा दाँत व मसूड़ों के रोगों में लाभकर है।

अदरख (सौंठ) —

अदरक यह महत्वपूर्ण मसाले की फसल है। यह एक पौधे की जड़ है। यह भारत में एक मसाले के रूप में प्रमुख है। अदरक का इस्तेमाल अधिकतर भोजन के बनाने के दौरान किया जाता है। अक्सर सर्दियों में लोगों को खांसी-जुकाम की परेशानी हो जाती है जिसमें अदरक प्रयोग बेहद ही कारगर माना जाता है। यह अरूची और हृदय रोगों में भी फायदेमंद है। इसके अलावा भी अदरक कई और बीमारियों के लिए भी फ़ायदेमंद मानी गई है। आयुर्वेद में अदरक के कई औषधीय गुण बताए गए हैं। भूख की कमी, बदहजमी, वात-पित्त दोष आदि में अदरक के औषधीय गुण बेहद लाभदायक होते हैं। घाव, पथरी, बुखार, एनीमिया और मूत्र रोग में भी अदरक फायदेमंद है। पाचन-तंत्र, सूजन, शरीर के दर्द, सर्दी- खांसी जैसी बीमारियों में अदरक के इस्तेमाल से फायदा मिलता है। इतना ही नहीं हृदय रोग, रक्त विकार, बवासीर आदि रोगों में भी अदरक के औषधीय गुण से लाभ होता है। इसका वानस्पतिक नाम- जिंजीबर ओफिसिनेल (Zingiber officinale) है। इसका प्रयोज्य अंग कंद है।

उपयोग—

1. अदरख की चाय (क्वाथ) सदी जुकाम व कफ की उत्तम औषधि है।
2. खून को पतला करने के गुण के कारण तथा कोलेस्ट्रॉल को कम करने के कारण यह हृदय रोगों में प्रयोग किया जाता है।
3. स्मुद्री यात्रा, हवाई यात्रा तथा गर्भावस्था जन्य वमन में यह कारगर औषधि है।
4. अरुचि, उदरशूल, अतिसार तथा कास में भी यह लाभकर है। यह दीपन पाचन कर्म करता है।
5. यह आम पाचक है, अतः शरीर में उत्पन्न आम को नष्ट करता है।

गुड़मार—

यह एक औषधीय पौधा है। यह बेल (लता) के रूप में होता है। इसकी पत्ती को खा लेने पर किसी भी मीठी चीज का स्वाद लगभग एक घंटे तक के लिए समाप्त हो जाता है। इसे खाने के बाद गुड़ या चीनी की मिठास खत्म हो जाती है और वह खाने पर रेत के समान लगती है। इस विशेषता के कारण स्थानीय लोग इसे गुड़मार के नाम से पुकारते हैं। मधुमेह में इसका उपयोग प्रायः किया जाता है। इसका वानस्पतिक नाम जिम्नेमा सिल्वेस्ट्रा (Gymnema sylvestre) है।

उपयोग—

1. यह रक्त में शर्करा की उपस्थिति को नियंत्रित करता है अतः मधुमेह में प्रयोग किया जाता है।
2. इसकी जड़ का चूर्ण सर्पदंश के ब्रण पर लगाने के काम आता है।
3. यह यकृत व प्लीहा शोथ, अरुचि, विबन्ध व पीलिया की कारगर औषधि है।
4. प्रतिश्याय कास व श्वास में इसके बीजों का चूर्ण देते है।
5. मूल का क्वाथ सर्पविष में पिलाते हैं।

गिलोय (Tinospora cordifolia)

गिलोय का रस शरीर से विषाक्त पदार्थों को बाहर निकालने, इम्यूनिटी बढ़ाने और पाचन क्रिया को सही रखने में सहायक है। यह शरीर को ऊर्जा प्रदान करता है और बुखार के इलाज में भी सहायक है। इसका उपयोग बुखार, इन्फेक्शन, और शरीर की प्रतिरक्षा बढ़ाने के लिए किया जाता है।

संतुल (Moringa oleifera)

संतुल में प्रोटीन, कैल्शियम, आयरन, विटामिन A, C और E पाए जाते हैं। यह एंटीऑक्सीडेंट, एंटीबैक्टीरियल और एंटीइंफ्लेमेटरी गुणों से भरपूर है। इसका उपयोग पोषण बढ़ाने, पाचन सुधारने, रक्तदाब को नियंत्रित करने और हड्डियों को मजबूत बनाने के लिए किया जाता है।

पुदीना (Mentha piperita)

पुदीना में एंटीऑक्सीडेंट और एंटीबैक्टीरियल गुण होते हैं। यह पेट के रोगों, सिरदर्द, मांसपेशियों के दर्द और मानसिक थकावट में राहत प्रदान करता है। इसका उपयोग पाचन संबंधी समस्याएँ, सिरदर्द, नर्वस सिस्टम के लिए और सांस की ताजगी बनाए रखने के लिए किया जाता है।

शंखपुष्पी (Convolvulus pluricaulis)

शंखपुष्पी मानसिक स्वास्थ्य को सुधारने में मदद करता है। यह मस्तिष्क के कार्यों को बेहतर बनाता है, याददाश्त को बढ़ाता है और तनाव को कम करता है। इसका उपयोग मानसिक तनाव, अवसाद, मानसिक थकान, और याददाश्त को सुधारने के लिए किया जाता है।

कमल—

यह भारत का राष्ट्रीय पुष्प है। कमल का फूल सफेद या गुलाबी रंग का होता है और पत्ते लगभग गोल, ढाल जैसे, होते हैं। पत्तों की लंबी डंडियों और नसों से एक तरह का रेशा निकला होता है। कमल के पौधे के प्रत्येक भाग के अलग-अलग नाम हैं और उसका प्रत्येक भाग चिकित्सा में उपयोगी है-अनेक आयुर्वेदिक, एलोपैथिक और यूनानी औषधियाँ कमल के भिन्न-भिन्न भागों से बनाई जाती हैं। कमल का औषधि के रूप में उपयोग करते हैं। कमल के फूलों का विशेष उपयोग पूजा और शृंगार में भी होता है। इसके पत्तों को पत्तल के स्थान पर काम में लाया जाता है। बीजों का उपयोग अनेक औषधियों में होता है और उन्हें भूनकर मखाने बनाए जाते हैं। तनों (मृणाल, बिस, मिस, मसींडा) से अत्यंत स्वादिष्ट शाक बनता है। इसका वानस्पतिक नाम - निलूम्बियम स्पेसियोसम (Nelumbium speciosum) है। इसका प्रयोज्य अंग फल, मूल, पुष्प व बीज है।

उपयोग—

1. यह दाह, मूत्र संबंधी व्याधियों मानसिक रोगों की उत्तम औषधि है।

2. इसकी पत्तियों को अतिसार लू लगने तथा रक्त वमन में प्रयोग करते हैं।
3. यह त्वक रोगों में भी कारगर है।
4. इसकी पत्तियाँ और फूल अर्श तथा रक्तसाव सम्बन्धी रोगों में लामकर है।
5. यह हृदय बल्य है तथा हृदय संरक्षण करता है।

खसखस (पोस्त) —

खसखस मसालों के रूप में उपयोग होने वाला एक महत्वपूर्ण मसाला है। यह भोजन में स्वाद एवं खुशबू का अनोखा संगम है। इसका उपयोग मीठे व्यंजनों को बनाने में किया जाता है। खसखस मसाला सुगंधित और शीतलता देने वाला होता है. इसका उपयोग पेय पदार्थों जैसे कि ठंडाई, शर्बत, जूस में और दूध से बने पदार्थों में किया जाता है. मिठाइयों जैसे कि हलवा, खीर, केक और ब्रैड आदि बनाने में भी इसका इस्तेमाल होता है. खसखस सलाद और सब्जियों में भी डाल सकते हैं। खस-खस को पानी में भिगोकर कुछ देर तक रखने के उपरांत इस्तेमाल में लाने पर इसका स्वाद और भी ज्यादा निखर कर आता है. मफ़िन, केक, बन्स, डेज़र्ट और पेस्ट्री आदि पर इसे छिड़ककर इस्तेमाल किया जाता है। इसका वानस्पतिक नाम पापावर सोम्निफेरम (Papavar Somniferum) है। इसका प्रयोज्य अंग - बीज, पुष्प है। यह भारत वर्ष में 1500 मीटर से 2100 मीटर की ऊँचाई तक पाया जाता है।

उपयोग—

1. संधिशोथ या शरीर के अन्य भागों के शोथ या पीड़ा में इसका लेप करते हैं।
2 यह वेदना शामक होने के साथ-साथ निद्राजनन भी है।
3. आक्षेपहर होने के कारण अपस्मार, कम्पवात, धनुस्तंभ में प्रयोग किया जाता है।
4. शूलप्रशमन व स्तम्भन होने से उदरशूल व अतिसार में लाभकर है।

पिप्पली—

इस फल को सुखाकर मसाले, छौंक एवं औदषधीय गुणों के लिये आयुर्वेद में प्रयोग किया जाता है। इसका स्वाद अपने परिवार के ही एक सदस्य काली मिर्च जैसा ही है, किन्तु उससे अधिक तीखा होता है। इसका प्रयोग एक मसाले के बजाय एक औषधि के रूप में किया जाता है। इसका वानस्पतिक नाम पाइपर लेंगम (Piper longum) है। इसका प्रयोज्य अंग फल, मूल है।

उपयोग—

1. शोधयुक्त वेदना को शान्त करने के लिए इसका लेप किया जाता है।
2 यह अरूचि, अग्निमांद्य, अजीर्ण, विबन्ध, गुल्म उदरशूल में प्रयुक्त होता है।
3. शुकदौर्बल्य, रजोरोध और कष्ट प्रसव में लाभकारी है।
4. जीर्णज्वर में गुड के साथ इसका चूर्ण लाभकर है।

गुलाब—

गुलाब एक बहुवर्षीय, झाड़ीदार, कंटीला, पुष्पीय पौधा है जिसमें बहुत सुंदर सुगंधित फूल लगते हैं। गुलाब के फूलों में कई तरह के औषधीय गुण होते हैं। गुलाब के फूलों का सेवन करने से त्वचा, हृदय, और पाचन तंत्र को फ़ायदा होता है. गुलाब के फूलों से बने जल का इस्तेमाल त्वचा की देखभाल के लिए किया जाता है। इसका वानस्पतिक नाम रोजिया ऐण्टिफोलिया (Rosea centifolia) है। इसका प्रयोज्य अंग पुष्प दल, तेल है।

उपयोग—

1. यह उच्चरक्तचाप, अतिसार, कष्टार्तव, ज्वर, अनिद्रा में लाभकारी है।
2. त्वक विकारों में इसका चूर्ण या लेप लगाते है।
3. यह पाचनविकार तथा विबन्ध में उपयोगी है।
4. रक्तपित्त, हृदयरोग तथा दौर्बल्य में प्रयोग किया जाता है।

सफेद मूसली—

सफ़ेद मूसली एक दुर्लभ भारतीय जड़ी-बूटी है। इसमें कई औषधीय गुण होते हैं। आयुर्वेद में इसका इस्तेमाल कई तरह की बीमारियों के इलाज में किया जाता है। सफ़ेद मूसली एक आयुर्वेदिक जड़ी-बूटी है जो प्रायः भारत के उष्ण कटिबंधीय जंगलो में पायी जाती है। आमतौर पर यह गीले क्षेत्रों या जंगलो में अपने आप उगती है, लेकिन कुछ जगह इसकी खेती भी की जाती है।

मूसली मुख्य रूप से दो तरह की होती है, सफ़ेद मूसली और काली मूसली। जिसमे सफ़ेद मुसली ज्यादा बढ़िया मानी जाती है। इसका पौधा करीब 1.5 फ़ीट लम्बा होता है। इसका वानस्पतिक नाम- क्लोरोफाइटम एरूण्डिनेसियम (Chlorophytum arundenaceum) है। इसका प्रयोज्य अंग कन्द है।

उपयोग—

1. यह दृश्य एवं है अतः दोर्बल्य कृशता में प्रयोग किया जाता है।
2. इसके सेवन से शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता में वृद्धि होती है।

शंखपुष्पी—

शंखपुष्पी का पौधा यादाश्त बढ़ाने में बहुत फायदेमंद होते हैं। वैसे तो शंखपुष्पी के फूल कई तरह के रंगों के होते हैं लेकिन आयुर्वेद में सफेद रंग के शंखपुष्पी का सबसे ज्यादा प्रयोग किया जाता है। चरकसंहिता के ब्रह्मरसायन में तथा मिर्गी के चिकित्सा में शंखपुष्पी का प्रयोग का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त खांसी की चिकित्सा के लिए अगस्तयहरीतकी योग में और द्विपंचमूलादिघृत में शंखपुष्पी का वर्णन मिलता है। आचार्य सुश्रुत ने भी तिक्त गण में शंखपुष्पी के बारे में चर्चा की है । शंखपुष्पी कड़वा और ठंडे तासीर का होता है। आयुर्वेद के अनुसार शंखपुष्पी एक ऐसी जड़ी बूटी है जो दिमाग को स्वस्थ रखने के साथ-साथ अनेक तरह के बीमारियों के लिए औषधि के रूप में काम करती है। कहने का मतलब ये है कि शंखपुष्पी की खास बात ये है कि यह मानसिक रोगों के लिए बहुत ही लाभादायक होती है। यह कुष्ठ, कृमि और विष का असर कम करने में भी मदद करती है। इसका वानस्पतिक नाम कोनवॉल्वुलस प्लूरिकौलिस (Convolvulus Pluricaulis) है।

उपयोग—

1. यह मेध्य तथा नाड़ियों के लिए बलप्रद है। यह निद्राजनन भी है।
2. यह शीतवीर्य होने से रक्तस्तंभक है तथा उच्च रक्तचाप को कम करती है।
3. यह मूत्र विरेचनीय वृष्य तथा प्रजास्थापन है।
4. यह रक्तवमन की अद्वितीय औषधि है।
5. यह शुकदौर्बल्य तथा गर्भाशय दौर्बल्य की प्रशस्त औषध है।

गुडुची—

गुडुची एक जड़ी-बूटी है जिसके कई औषधीय गुण हैं। आयुर्वेद में इसे सबसे शक्तिशाली जड़ी-बूटियों में से एक माना जाता है। गुडुची एक प्राकृतिक एंटी-इंफ्लेमेटरी, एंटी-बायोटिक, एंटी-एजिंग, एंटी-ऑक्सीडेंट, एंटी-वायरल, एंटी-डायबिटिक और एंटी-कैंसर औषधि है। इस औषधि की सबसे खास बात यह है कि इसके साइड इफेक्ट्स नहीं है, इसलिए हर उम्र के लोग गुडुची का सेवन बिना किसी संकोच के कर सकते हैं। इसका वानस्पतिक नाम टिनिस्पोरा कार्डिफोलिया (Tinospora Cordifolia) है।

उपयोग—

1. यह त्रिदोष शामक है। घृत के साथ वात, शर्करा के साथ पित तथा मधु के साथ कफ विकारों में दिया जाता है।
2. कुष्ठ वातरक्त में इससे सिद्ध घृत का प्रयोग किया जाता है।
3. इसका सत्व जीर्ण ज्वर तथा दाह में प्रयोग करते हैं। यह बल्य भी है।
4. दौर्बल्य, क्षय में तथा रसायन कर्म में प्रयोग होता है।
5. इसे मूत्राश्मरी में भी प्रयोग करते हैं।

हरीतकी—

हरीतकी औषधीय गुणों का भंडार है। इसमे विटामिन सी, विटामिन के, अमीनो एसिड, मैग्नीशियम, फ्लेवेनॉएड और एंटी ऑक्सीडेंट्स जैसे भरपूर पोषक तत्व पाए जाते हैं। आयुर्वेद में इसे कई सारी बीमारियों के इलाज के लिए प्रयोग किया जाता है। ब्लड शुगर को कंट्रोल करने से लेकर डाइजेशन के लिए हरीतकी बेहद फायदेमंद है । हरीतकी को वैद्यों ने चिकित्सा साहित्य में अत्यधिक सम्मान देते हुए उसे अमृतोपम औषधि कहा है। राज बल्लभ निघण्टु ने कहा है—

यस्य माता गृहे नास्ति, तस्य माता हरीतकी।
कदाचिद् कुप्यते माता, नोदरस्था हरीतकी ॥

(अर्थात् हरीतकी मनुष्यों की माता के समान हित करने वाली है। माता तो कभी-कभी कुपित भी हो जाती है, परन्तु उदर स्थिति अर्थात् खायी हुई हरड़ कभी भी अपकारी नहीं होती।)

हरीतकी के सेवन से समस्त रोगों का नाश होता है। इसके लगातार सेवन से बाल काले हो जाते हैं। सूंघने की क्षमता में वृद्धि होती है और आंखें जल्दी खराब नहीं होती है । इसका वानस्पतिक नाम टर्मिनेलिया चेबुला (Terminalia Chebula) है। इसका प्रयोज्य अंग फल त्वक् है।

उपयोग—

1. इसका लेप शोथहर वेदनास्थापन, व्रण शोधन व्रण रोपण है।
2. यह दीपन, पाचन, यकृदुत्तेजक, मृदुरेचन है।
3. यह वृश्य, गर्भाशय शोथहर तथा प्रजास्थापन है।
4. इसके क्वाथ से मुख तथा गले के रोगों में कुल्ला करते है।
5. कोष्ठ शोधन के लिए हरीतकी सर्वश्रेष्ठ द्रव्य है।
6. शुक्रमेह, श्वेतप्रदर तथा गर्भाशय दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।
7. इसका चूर्ण सोंठ के साथ मिलाकर गर्म पानी के साथ सेवन करने से हक्का में लाभकर है।

गेंदा—

गेंदे के फूल और पत्तियों में कई औषधीय गुण होते हैं। गेंदे के फूल में विटामिन ए, विटामिन बी, मिनरल्स, और एंटीऑक्सीडेंट पाए जाते हैं, गेंदे के फूल और पत्तियों का इस्तेमाल कई तरह की बीमारियों में किया जाता है। गेंदा ये पौधा न केवल आपके शरीर को स्वस्थ रखते

हैं वरन कीटों को भी दूर रखते है। यह त्वचा को शांत और त्वचा संबंधी बीमारियों के उपचार में सहायक है।

उपयोग—

1. इसका इस्तेमाल आंखों के संक्रमण को कम करने में किया जाता है।
2. यह एंटीऑक्सीडेंट गुण स्ट्रेस कम करने में मदद करते हैं.
3. गेंदे के फूलों का इस्तेमाल शरीर को डिटॉक्सिफ़ाई करने में किया जाता है.
4. इसका इस्तेमाल खून शुद्ध करने में किया जाता है.
5. यह मजबूत जीवाणुरोधी तथा संक्रमणरोधी गुणों से युक्त है।

ध्यान दें: यद्यपि अधिकांश औषधीय जड़ी-बूटियाँ न्यूनतम दुष्प्रभावों के साथ आपके स्वास्थ्य को बेहतर बनाने में मदद करती हैं, लेकिन उनमें से अधिकांश का उन लोगों के लिए सुरक्षा के लिए परीक्षण नहीं किया गया है जो कमजोर हैं या किसी भी आहार/स्वास्थ्य प्रतिबंध के साथ हैं। इसके अलावा, सेवन से पहले उचित खुराक पर विचार किया जाना चाहिए।

3.4.2 औषधीय वृक्षों के गुण एवं उपयोग—

नीम—

नीम औषधीय दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। यह भारत में आमतौर से हर जगह पाया जाता है। इस वृक्ष के लगभग सभी भाग जैसे पत्तियाँ, तना, पुष्प, फल आदि काम में आते हैं। इसकी पत्तियाँ पाचक, वातहर, कफनाशक एवं कीटाणुनाशक होती हैं। पत्तियों का रस अनेक त्वचा रोगों तथा पीलिया के उपचार में प्रयुक्त होता है। इसका उपयोग कृमिनाशक के रूप में भी होता है। भारत में नीम के तने के टुकड़े को दातुन के रूप में

बेल—

यह रूटेसी कुल का सदस्य है तथा विश्वभर में पाया जाता है। डायरिया, पेट की गड़बड़ियों तथा कब्ज के उपचार में यह उपयोगी है। बेल के फलों से एक ताजगीदायक पेय भी बनाया जाता है। इसका वानस्पतिक नाम एजिल मार्मेलोस (Aegle marmelos) है। इसका प्रयोज्य अंग मूल, त्वक, पत्र, फल है।

उपयोग—

1. नेत्राभिषांद में पत्र का स्वरस नेत्र में डालते हैं तथा पत्तियों का लेप लगाते हैं।
2. इसका मूल वातव्याधि, आक्षेपक, उन्माद, अनिद्रा में प्रयुक्त होता है।
3. मूलत्वक् तथा फल चूर्ण अतिसार, प्रवाहिका तथा ग्रहणी में प्रयुक्त होता है।
4. यह गर्भाशय शोथ, श्वेतप्रदर तथा सूतिका रोग को दूर करता है।
5. इसके पत्र का क्वाथ अम्लपित्त तथा मूल कर्ण रोगों में लाभकर है।

आंवला—

आंवले का वानस्पतिक नाम एम्बलिका आफिसिनेलिस है। इसके फलों में विटामिन 'सी' भरपूर मात्रा में होता है। आंवले के फल शीतलता प्रदान करने वाले, विरेचक तथा मूत्रवाही होते हैं। यह हरड़ एवं बहेड़ा के साथ त्रिफला चूर्ण के रूप में पेट के विकार तथा आँखों की रोशनी को ठीक करता है। इसका वानस्पतिक नाम- एम्लिका ऑफिसिनेलिस (Emblica officinalis) है। इसका प्रयोज्य अंग फल है।

उपयोग—

1. यह विटामिन सी का सर्वोत्तम वानस्पतिक स्रोत है अतः यह स्कर्वी रोग में शर्करा व दूध के साथ प्रयोग कराये जाने पर लाभदायक परिणाम देता है।
2. यह हृदय के लिए बल्य है शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता को बढ़ाता है।
3. यह एक उत्तम रसायन है तथा मधुमेह में भी लाभकर परिणाम दिखाता है।
4. बलों के लिए लाभकारी है तथा बालों को सफेद होने तथा झड़ने से रोकता है।
5. शुक्रमेह प्रदर तथा गर्भाशय दौर्बल्य में उपयोगी है।
6. इसके फल का चूर्ण दृष्टिमाद्य अरूचि, अम्लपित, परिणामशूल, उदररोग, प्रमेह तथा अर्श में लाभकर हैं।

जामुन—

जंगलों, गाँव के किनारे, खतों के किनारे और उद्यानों में जामुन के पेड़ देखे जा सकते हैं। जामुन का वानस्पतिक नाम सायजायजियम क्युमिनी है। जामुन में लौह और फास्फोरस जैसे तत्व प्रचुरता से पाए जाते है, जामुन में कोलीन तथा फोलिक एसिड भी भरपूर होते है। पातालकोट के आदिवासी मानते है कि जामुन के बीजों के चूर्ण की दो-दो ग्राम मात्रा बच्चों को देने से बच्चे बिस्तर पर पेशाब करना बंद कर देते हैं। जामुन के ताजे पत्तों की लगभग 50 ग्राम मात्रा लेकर पानी (300 मिली) के साथ मिक्सर में रस पीस लें और इस पानी को छानकर कुल्ला करें, इससे मुंह के छाले पूरी तरह से खत्म हो जाते है।

पपीता—

वानस्पतिक नाम – केरिका पपाया (Carica Papaya)
प्रयोज्य अंग फल, पत्र, दूध, बीज
उत्पतिस्थान - सम्पूर्ण भारतवर्ष

उपयोग—

1. इसमें पाये जाने वाले कायमौपापेन और पापेन (Chymopapain & papain)
1. पाचक है इसलिए यह पाचन सम्बन्धी रोगों व आन्त्र कृमि में लाभकर है।
2. इसके दूध का प्रयोग सोरायसिस तथा रिंगवर्म में किया जाता है।
3. इसके मूल के क्वाथ का प्रयोग मूत्राश्मरी तथा मूत्रकृच्छ में करते हैं।
4. इसके दूध व बीजों का प्रयोग रजोरोध, कष्टार्तव में किया जाता है।

दालचीनी—

वानस्पतिक नाम- सिन्नामोसम जिलेनिकम (Cinnamomum Zeylanicum)
प्रयोज्य अंग छाल
उत्पत्ति स्थान दक्षिण पश्चिम भारत में समुद्र किनारे एवं श्रीलंका

उपयोग—

1. यह मुखशोधन, मुखदुर्गन्ध नाशन है।
2. यह भारतीय भोजन में गर्म मसालों के रूप में प्रयोग किया जाता है। यह उत्तम दीपन द्रव्य है।
3. यह हृद्दौर्बल्य में उपयोगी है तथा कोलेस्ट्राल व ट्राइग्लिसराईड की कम करने के काम आता है।
4. यह वातानुलोमक एवं ग्राही है अतः उदर में वायु संचित होने (आफरा) तथा अतिसार में भी उपयोगी है।
5. यह अरुचि, श्वास कास में उपयोगी है।

6. मूत्रकृच्छ रजोरोध में इसका चूर्ण देने पर लाभ होता है।

धतूरा—

वानस्पतिक नाम धतूरा मेटल (Datura Metal)

प्रयोज्य अंग बीज, पुष्प व पत्र

उत्पत्ति स्थान उत्तर पश्चिम हिमालय

उपयोग—

1. वेदना स्थापन होने से इसके पत्रों का लेप दर्द वाले स्थानों पर किया जाता है।
2. अम्लपित, परिणामशूल और पित्ताश्मरी में इसका प्रयोग लाभकर है।
3. यह श्वास रोग की उत्तम औषधि है।
4. इसके पत्र, पुष्प मजरी और बीज वेदना स्थापक, मादक गुण वाले होते है।

अनार—

वानस्पतिक नाम- प्यूनिका ग्रेनेटम (Punica granatum)

प्रयोज्य अंग फल, फलत्वक

उत्पत्ति स्थान सम्पूर्ण भारत वर्ष

उपयोग—

1. यह कई रोगों की कारगर औषधि है। इसके रस से रक्त के कोलेस्ट्रोल की मात्रा नियंत्रित होती है।
2. इसकी छाल के काढ़े से मुख व कण्ठ रोगों में गरारे करते है।
3. अरूचि, अगिमांद्य, अतिसार की प्रशस्त औषधि है।
4. इसके फलों से ज्वर के उपद्रव शान्त होकर रोगी के बल में वृद्धि होती है।
5. इसके फलों में एन्टीआक्सीडेन्ट पाये जाते है जो शरीर में कैंसर से लडने की शक्ति पैदा करते है।

रीठा—

वानस्पतिक नाम- सेपिन्डस म्यूकोरोसी (Sapindus mukorossi)

प्रयोज्य अंग फल

उत्पत्ति स्थान सम्पूर्ण भारत वर्ष

उपयोग—

1. यह विशेष रूप से साबुन व शैंपू बनाने के लिए प्रयोग किया जाता है।
2. यह शोथहर, वेदना स्थापन, विकान तथा कुष्ठप्न है।
3. कफनिसारक गर्भाशय संकोचक तथा कुष्ठघ्न है।
4. इसके फल के चूर्ण का नस्य अर्घावभेदक, मूर्च्छा, अपतंत्रक तथा श्वास में देते है।

अखरोट—

वानस्पतिक नाम जुग्लान रेजिया (Juglans Regia)

प्रयोज्य अंग फल तथा पत्र

उत्पत्ति स्थान हिमालय व खासी की पहाड़ियां

उपयोग—

1. इसके बीज पौष्टिक, बल्य एवं पोषक हैं उसमें जीवनीय ए.बी.सी (vit A.B.C)
2. इसके फल और पत्र कृमिघ्न, शोथध्य हैं।

3. इसका तेल मासिक धर्म संबंधी विकारों तथा त्वक विकारों में कारगर है।
4. इसके बीज अश्मरीध्न व मूत्रल है।
5. इसके लेप त्वक विकारों में लगाया जाता है।
6. इसमें कैंसर नाशक गुण पाये जाते है।
7. अखरोट के बीजों का तैल स्फीत कृमि (Tape worm) नाशक है।

बहेड़ा—

वानस्पतिक नाम टर्मिनेलिया बेलेरिका (Terminalia belerica)
प्रयोज्य अंग फल
उत्पत्ति स्थान सम्पूर्ण भारतवर्ष

उपयोग—

1. शोथ वेदना युक्त स्थानों में इसके फल का लेप करते हैं।
2. इसका तेल चर्मरोगों, श्वित्र, पालित्य में प्रयोग किया जाता है।
3. उसे भूनकर प्रयोग करने से कफ, कण्ठ शोथ तथा श्वास में फायदा मिलता है।
4. वातव्याधि, अनिद्रा में इसकी मज्जा का प्रयोग करते हैं।
5. अभिष्यंद में इसके फल का लेप नेत्र पर लगाते हैं।
6. इससे सिद्ध तेल, खालित्य, पालित्य में प्रयोग में लाते हैं।
7. इसके अर्धपक्व फल विबन्ध में तथा पक्व शुष्क फल अतिसार प्रवाहिका में देते हैं।
8. यह रक्तष्ठीवन में प्रयोग किया जाता है।

जामुन—

वानस्पतिक नाम सिजीजियम क्यूमिनाइ (Syzygium cumini)
प्रयोज्य अंग छाल, फल, बीज, पत्र
उत्पत्ति स्थान सम्पूर्ण भारतवर्ष

उपयोग—

1. इसकी छाल व फल उत्तम मधुमेह नाशक है।
2. रक्तस्राव होने पर तथा व्रणों पर इसकी छाल का अवचूर्णन करते हैं।
3. इसके पत्र का चूर्ण मसूड़ों को मजबूत बनाने के लिये देते हैं। कोमल पत्र वमन में प्रयुक्त होते हैं।
4. इसके बीज का चूर्ण रक्तप्रदर रक्तातिसार में देते हैं।
5. इसकी छाल व बीजों का क्वाथ अरूचि नाशक, मूत्रल, पाचक तथा कृमिघ्न है।

बरगद—

बरगद को 'अक्षय वट' भी कहा जाता है, क्योंकि यह पेड़ कभी नष्ट नहीं होता है। बरगद का वृक्ष घना एवं फैला हुआ होता है। बरगद का वानस्पतिक नाम फाइकस बेंघालेंसिस है। पेशाब में जलन होने पर दस ग्राम ग्राम बरगद की हवाई जड़ों का बारीक चूर्ण, सफ़ेद जीरा और इलायची (दो-दो ग्राम) का बारीक चूर्ण एक साथ गाय के ताजे दूध के साथ लिया जाए तो अतिशीघ्र लाभ होता है। पातालकोट के आदिवासियों के अनुसार बरगद की जटाओं के बारीक रेशों को पीसकर दाद-खाज खुजली पर लेप लगाया जाए तो फायदा जरूर होता है। बरगद का वृक्ष आयुर्वेद में रक्तदाब, श्वास समस्याओं और त्वचा रोगों के इलाज में प्रयोग होता है। इसके पत्तों और छाल में औषधीय गुण पाए जाते हैं।

इसका उपयोग श्वास संबंधी रोगों, बवासीर, और रक्तदाब में सहायता करता है।

अमलतास—

झूमर की तरह लटकते पीले फ़ूल वाले इस पेड़ को सुंदरता के लिये अक्सर बाग-बगीचों में लगाया जाता है हालांकि जंगलों में भी इसे अक्सर उगता हुआ देखा जा सकता है। अमलतास का वानस्पतिक नाम केस्सिया फ़िस्टुला है। अमलतास के पत्तों और फूलों में ग्लाइकोसाइड, तने की छाल टैनिन, जड़ की छाल में टैनिन के अलावा ऐन्थ्राक्विनीन, फ्लोवेफिन तथा फल के गूदे में शर्करा, पेक्टीन, ग्लूटीन जैसे रसायन पाए जाते है। पेट दर्द में इसके तने की छाल को कच्चा चबाया जाए तो दर्द में काफी राहत मिलती है। पातालकोट के आदिवासी बुखार और कमजोरी से राहत दिलाने के लिए कुटकी के दाने, हर्रा, आँवला और अमलतास के फलों की समान मात्रा लेकर कुचलते है और इसे पानी में उबालते है, इसमें लगभग पांच मिली शहद भी डाल दिया जाता है और ठंडा होने पर रोगी को दिया जाता है।

अर्जुन—

अर्जुन का पेड़ आमतौर पर जंगलों में पाया जाता है और यह धारियों-युक्त फलों की वजह से आसानी से पहचान आता है, इसके फल कच्चेपन में हरे और पकने पर भूरे लाल रंग के होते हैं। अर्जुन का वानस्पतिक नाम टर्मिनेलिया अर्जुना है। औषधीय महत्व से इसकी छाल और फल का ज्यादा उपयोग होता है। अर्जुन की छाल में अनेक प्रकार के रासायनिक तत्व पाये जाते हैं जिनमें से प्रमुख कैल्शियम कार्बोनेट, सोडियम व मैग्नीशियम प्रमुख है। आदिवासियों के अनुसार अर्जुन की छाल का चूर्ण तीन से छह ग्राम गुड़, शहद या दूध के साथ दिन में दो या तीन बार लेने से दिल के मरीजों को काफी फ़ायदा होता है। वैसे अर्जुन की छाल के चूर्ण को चाय के साथ उबालकर ले सकते हैं। चाय बनाते समय एक चम्मच इस चूर्ण को डाल दें इससे उच्च-रक्तचाप भी सामान्य हो जाता है।

अशोक—

ऐसा कहा जाता है कि जिस पेड़ के नीचे बैठने से शोक नहीं होता, उसे अशोक कहते हैं। अशोक का पेड़ सदैव हरा-भरा रहता है, जिसपर सुंदर, पीले, नारंगी रंग फ़ूल लगते हैं। अशोक का वानस्पतिक नाम सराका इंडिका है। अशोक की छाल को कूट-पीसकर कपड़े से छानकर रख लें, इसे तीन ग्राम की मात्रा में शहद के साथ दिन में तीन बार सेवन करने से सभी प्रकार के प्रदर में आराम मिलता है। पातालकोट के आदिवासियों के अनुसार यदि महिलाएं अशोक की छाल 10 ग्राम को 250 ग्राम दूध में पकाकर सेवन करें तो माहवारी सम्बंधी परेशानियां दूर हो जाती हैं।

कचनार—

हल्के गुलाबी लाल और सफ़ेद रंग लिये फ़ूलों वाले इस पेड़ को अक्सर घरों, उद्यानों और सड़कों के किनारे सुंदरता के लिये लगाया जाता है। कचनार का वानस्पतिक नाम बाउहीनिया वेरीगेटा है। मध्यप्रदेश के ग्रामीण अँचलों में दशहरे के दौरान इसकी पत्तियाँ आदान-प्रदान कर एक दूसरे को बधाईयाँ दी जाती है। इसे सोना-चाँदी की पत्तियाँ भी कहा जाता है। पातालकोट के आदिवासी हर्बल जानकार जोड़ों के दर्द और सूजन में आराम के लिये इसकी जड़ों को पानी में कुचलते है और फ़िर इसे उबालते है। इस पानी को दर्द और सूजन वाले भागों पर बाहर से लेपित करने से काफी आराम मिलता है। मधुमेह की शिकायत होने पर रोगी को प्रतिदिन सुबह खाली पेट इसकी कच्ची कलियों का सेवन करना चाहिए।

गुन्दा—

गुन्दा मध्यभारत के वनों में देखा जा सकता है, यह एक विशाल पेड़ होता है जिसके पत्ते चिकने होते है, आदिवासी अक्सर इसके पत्तों को पान की तरह चबाते है और इसकी लकड़ी इमारती उपयोग की होती है। इसे रेठु के नाम से भी जाना जाता है, हलाँकि इसका वानस्पतिक नाम कार्डिया डाईकोटोमा है। इसकी छाल की लगभग 200 ग्राम मात्रा लेकर इतने ही मात्रा पानी के साथ उबाला जाए और जब यह एक चौथाई शेष रहे तो इससे कुल्ला करने से मसूड़ों की सूजन, दांतो का दर्द और मुंह के छालों में आराम मिल जाता है। छाल का काढ़ा और कपूर का मिश्रण तैयार कर सूजन वाले हिस्सों में मालिश की जाए तो फ़ायदा होता है।

नीलगिरी—

यह पेड़ काफी लंबा और पतला होता है। इसकी पत्तियों से प्राप्त होने वाले तेल का उपयोग औषधि और अन्य रूप में किया जाता है। नीलगिरी की पत्तियां लंबी और नुकीली होती हैं जिनकी सतह पर गांठ पाई जाती है और इन्हीं गाठों में तेल संचित रहता है। नीलगिरी का वानस्पतिक नाम यूकेलिप्टस ग्लोब्यूलस होता है। शरीर की मालिश के लिए नीलगिरी का तेल उपयोग में लाया जाए तो गम्भीर सूजन तथा बदन में होने वाले दर्द नष्ट से छुटकारा मिलता है, वैसे आदिवासी मानते है कि नीलगिरी का तेल जितना पुराना होता जाता है इसका असर और भी बढता जाता है। इसका तेल जुकाम, पुरानी खांसी से पीड़ित रोगी को छिड़ककर सुंघाने से लाभ मिलता है।

पलाश—

मध्यप्रदेश के लगभग सभी इलाकों में पलाश या टेसू प्रचुरता से पाया जाता है। इसका वानस्पतिक नाम ब्युटिया मोनोस्पर्मा है। पलाश की छाल, पुष्प, बीज और गोंद औषधीय महत्त्व के होते हैं। पलाश के गोंद में थायमिन और रिबोफ़्लेविन जैसे रसायन पाए जाते है। पतले दस्त होने के हालात में यदि पलाश का गोंद खिलाया जाए तो अतिशीघ्र आराम मिलता है। पलाश के बीजों को नींबूरस में पीसकर दाद, खाज और खुजली से ग्रसित अंगो पर लगाया जाए तो फ़ायदा होता है।

पीपल—

पीपल के औषधीय गुणों का बखान आयुर्वेद में भी देखा जा सकता है। पीपल का वानस्पतिक नाम फ़ाइकस रिलिजियोसा है। मुँह में छाले हो जाने की दशा में यदि पीपल की छाल और पत्तियों के चूर्ण से कुल्ला किया जाए तो आराम मिलता है। पीपल की एक विशेषता यह है कि यह चर्म-विकारों को जैसे-कुष्ठ, फोड़े-फुन्सी दाद-खाज और खुजली को नष्ट करता है। डाँगी आदिवासी पीपल की छाल घिसकर चर्म रोगों पर लगाने की राय देते हैं। कुष्ठ रोग में पीपल के पत्तों को कुचलकर रोगग्रस्त स्थान पर लगाया जाता है तथा पत्तों का रस तैयार कर पिलाया जाता है।

फालसा—

फ़ालसा एक मध्यम आकार का पेड़ है जिस पर छोटी बेर के आकार के फल लगते है। फ़ालसा मध्यभारत के वनों में प्रचुरता से पाया जाता है। फ़ालसा का वानस्पतिक नाम ग्रेविया एशियाटिका है। खून की कमी होने पर फालसा के पके फल खाना चाहिए इससे खून बढ़ता है। अगर शरीर में त्वचा में जलन हो तो फालसे के फल या शर्बत को सुबह-शाम लेने से अतिशीघ्र

आराम मिलता है। यदि चेहरे पर निकल आयी फुंसियों में से मवाद निकलता हो तो उस पर फालसा के पत्तों को पीसकर लगाने से मवाद सूख जाता है और फुंसिया ठीक हो जाती हैं।

नारियल—

यह एक पतला, झुका हुआ वृक्ष है जिसका तना घुमावदार छल्ले जैसा होता है। यह 25 मीटर 80 पुट तक की उफंचाई का हो सकता है। इसका आधार चौड़ा होता है तथा शीर्ष विशाल पंखाकार पत्तियों वाला होता है। इसकी पत्तियां 13 से 20 इंच तक होती हैं।

खैर—

इस पेड़ की छाल खुरदुरी तथा गहरे भूरे रंग की होती है। यह 15 मीटर की उफंचाई तक बढ़ता है। इसकी पत्तियां 8 से 10 सेमी. तक लंबी होती हैं। इसके गहरे भूरे रंग की छाल पर छोटे नुकीले कांटे होते हैं।

देवदार—

यह एक शंक्वाकार वृक्ष है जिसका तना बहुत सारी शखाओं वाला होता है। इसकी पत्तियां सीधी होती हैं। इस वृक्ष का प्रयोग सर्दी, बुखार आदि में औषधि के रूप में होता है। देवदार वृक्ष की पत्तियों का प्रयोग चाय बनाने के लिए किया जाता है जो कि विटामिन-सी से भरपूर होती है।

साल—

साल एक दुर्लभ प्रजाति का वृक्ष है जो कि भारत के पूर्वी भाग जैसे कि बंगाल, असम आदि में पाया जाता है। यह 30 मीटर की उफंचाई तक होता है। साल वृक्ष कठोर तथा इसकी पत्तियां मोटी होती हैं। इसकी पत्तियां कभी भी पूरी तरह नहीं झड़ती।

शीशम—

शीशम की उफंचाई लगभग 25 मीटर तथा व्यास 3 मीटर के आस-पास होता है। यह सीध विकसित होता है। सके फूलों का रंग सफेद और गुलाबी होता है। इसके फल भूरे रंग के सूखे व कठोर होते हैं। शीशम वृक्ष का उफपरी भाग अंडाकार होता है। इसका प्रयोग पफर्नीचर निर्माण, प्लाइवुड, संगीत उपकरण आदि बनाने में किया जाता है।

ये औषधीय वृक्ष न केवल स्वास्थ्य को बनाए रखने में सहायक हैं, बल्कि विभिन्न रोगों को दूर करने में भी प्रभावी होते हैं। इनका सही उपयोग करने से शरीर और मानसिक स्थिति में सुधार हो सकता है।

1. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए-

1. अर्जुन वृक्ष सामान्यतया ..... तट के किनारे पाया जाता है।
2. ..... में सल्पफर से भरपूर तीखी सुगंध् होती है।
3. बेल बहुत सारी बीमारियों जैसे ....., कब्ज और पेचिश के उपचार में सहायक है।
4. घृतकुमार की ..... स्वास्थ्य को तेजी से सुधरने में सहायक है।
5. तुलसी जड़ी-बूटियों की ..... के रूप में जानी जाती है।

2. सही या गलत पर चिन्ह लगाइए-

1. वृक्ष वन्य जीवन की वृद्धि में सहायक होते हैं।
2. वृक्ष पर्यावरण की सुंदरता तथा मंनोरजनात्मक मूल्य कम कर देते हैं।
3. वृक्ष आक्सीजन का स्तर बनाये रखने में सहायता करते हैं।
4. वृक्ष बाढ़ और मृदा कटाव को बढ़ाते हैं।

5. आम, नीम जैसे वृक्षि ध्वनि प्रदूषण को कम करते हैं।

3.5 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने औषधीय वृक्षों का भली-भाँति अध्ययन किया । आपने जाना कि औषधीय वृक्षों का हमारे जीवन में क्या महत्त्व है। आज हम अपने दैनिक जीवन में औषधीय पौधों और जड़ी-बूटियों का भारी उपयोग देखते हैं, हम उनका उपयोग दवाओं के रूप में, चाय के रूप में, भोजन के रूप में, सौंदर्य प्रसाधनों के रूप में करते हैं और कुछ की तो पूजा भी की जाती है। जैसा कि हम आयुर्वेद के उपयोग में आवर्ती को देखते हैं, आज समृद्ध औषधीय गुणों वाले प्राकृतिक पौधों और औषधीय जड़ी-बूटियों को पसंद किया जा रहा है। औषधीय पौधे, व्यावसायिक उपयोग और कच्चे औषधीय उत्पादों के चिकित्सीय लाभ दोनों के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। वर्तमान समीक्षा में औषधीय एवं सुगंधित पौधों के मूल्य संवर्धन में शामिल चरणों, मूल्य संवर्धन के लिए प्रयुक्त विभिन्न तकनीकों तथा उनके महत्व को देखा जा सकता है।

3.6 पारिभाषिक शब्दावली

शब्द	अर्थ
अनुसंधान	शोध
औषधीय पौधों	औषधीय चृक्ष
पारंपरिक	पुरातन परम्परा

3.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. रिक्त स्थानों की पूर्ति

1. नदी
2. लहसुन
3. दस्त
4. पत्तियां
5. रानी

2. सही या गलत पर चिन्ह

1. सही 2. गलत 3. सही 4. गलत 5. सही

3.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. चरक संहिता, पीवी शर्मा अनुवादक, चौखम्बा ओरिएंटलिया, वाराणसी, भारत, 1981।

2. सुश्रुत संहिता, केएल भिशाग्रत्ना अनुवादक, चौखम्बा ओरिएंटलिया, वाराणसी, भारत, 1991।

3. अष्टांग हृदय - श्री कांता मूर्ति अनुवादक, चौखंबा ओरिएंटलिया, वाराणसी, भारत, 1991 ।

4. शारंगधारा संहिता, श्री कांता मूर्ति अनुवादक, चौखंबा ओरिएंटलिया, वाराणसी, भारत, 1984।

5. माधव निदानम, श्री कांता मूर्ति अनुवादक, चौखम्बा ओरिएंटलिया, वाराणसी, भारत, 1993।

6. https://wikipedia.org

3.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. पौधें को उगाने के 10 कारणों की सूची बनाइए।
2. आपके आस-पड़ोस में उगने वाले किन्हीं 5 पेड़ों की सूची बनाकर विवेचना कीजिए।
3. किन्हीं 10 औषधीय पौधें की सूची बनाइए जिन्हें आप घर में उगा सकते हैं।
4. निम्नलिखित पौधें के स्वास्थ्य संबंधी लाभ बताइए-

1. अश्वगंध
2. पुदीना
3. तुलसी
4. अदरक
5. लहसुन

खण्ड- तीन (Section-C)
चिकित्सा एवं योग

इकाई.1 योग दर्शन में चिकित्सा के सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देष्य
1.3 योग दर्शन में चिकित्सा के सिद्धान्त
1.3.1 चित्त विकारों का निवारण
1.3.2 योग का चिकित्सा विज्ञान
1.3.3 अष्टांग योग और उसके चिकित्सीय लाभ
1.3.4 योग का वैज्ञानिक प्रभाव
1.4 सारांष
1.5 पारिभाषिक षब्दावली
1.6 अभ्यास प्रष्नों के उत्तर
1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.8 निबन्धात्मक प्रष्न

1.1 प्रस्तावना

योग दर्शन में चिकित्सा के सिद्धान्त नामक इस इकाई में आप योग के अनुसार चिकित्सा के सिद्धान्तों के बारे में जानने वाले हैं। भारतीय विचार धाराओं के मूलस्रोत के रूप में स्थित वेदों तथा उपनिषदों से उत्पन्न हुए योगदर्शन में अष्टाङ्गयोग का वर्णन है। जिसके अभ्यास से आध्यात्मिक क्षेत्र के साथ ही स्वास्थ्य के क्षेत्र में भी प्रभूत योगदान है।

योग दर्शन में चिकित्सा शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक और आध्यात्मिक स्तरों पर संतुलन स्थापित करने का प्रयास करती हैं। पंचकोश सिद्धांत, जो कि शरीर को पांच आवरणों (अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष, और आनंदमय कोष) में विभाजित करता है, पर आधारित है. प्राकृतिक चिकित्सा का सिद्धांत, जो मानता है कि शरीर पंचमहाभूतों से बना है, भी योग दर्शन में महत्वपूर्ण है।

1.2 उद्देष्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पष्चात आप–

- योग दर्शन में चिकित्सा के सिद्धान्तों को जान सकेंगे।
- भारतीय विचार धारा के मूलस्रोतों को जान सकेंगे।

1.3 योग दर्शन में चिकित्सा सिद्धान्त

योग सम्यक् जीवन का विज्ञान है। यह हमारे व्यक्तित्व के शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक व आध्यात्मिक सभी पहलुओं को प्रभावित करता है।

आज के समय में आधुनिक चिकित्सा के रूप में योग को अपनाया जा रहा है। योग द्वारा न केवल शारीरिक स्वास्थ्य को बेहतर बनाया जा रहा है अपितु मानसिक और भावनात्मक स्वास्थ्य पर भी सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। आधुनिक चिकित्सा एवं योग से कई रोगों के उपचार एवं प्रबंधन में मदद मिलती है।

योग विज्ञान का प्रभाव सर्वप्रथम व्यक्तित्व के वाह्य पक्ष अर्थात् शरीर से प्रारम्भ होता है। स्थूल शरीर से प्रारम्भ कर योग मानसिक स्तर की ओर अग्रसर होता है। शारीरिक स्तर पर असंतुलनल होने से अंगों और पेशियों और तंत्रिकाओं के क्रियाकलापों में संतुलन नही रह जाता है। और उनमें एक–दूसरे में प्रतिकूलता देखने को मिलती है। जैसे– अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के अनियममित होने पर तंत्रिका तंत्र से संबधित रोग होने लगते है। मानसिक स्तर, भावनात्मक स्तर पर दबी भावनाओं और आपसी व्यवहार से उत्पन्न मानसिक रोग, भय आदि से ग्रस्त व्यक्तियों को योग द्वारा बाहर निकालने की सामर्थ्य प्राप्त होती है। मानसिक उद्वेगों से बाहन निकलने की अनेकों विधियां योग में है।

योग की शाखाओं के अंतर्गत कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, हठयोग, राजयोग, मंत्रयोग आदि है।

योगदर्शन के अन्तर्गत **महर्षि पतंजलि** ने अभ्यास, वैराग्य, क्रियायोग, अष्टांग योग आदि चिकित्सा पद्धतियों का अनूठा प्रयोग साधक के जीवन में अपनाने का निर्देश दिया है।

योग चिकित्सा के विभिन्न सिद्धान्तों को अपनाकर मानव जीवन की उत्कृष्टता को प्राप्त किया जा सकता है।

योग चिकित्सा का लक्ष्य – इक्कीसवीं सदी के इस युग में हमें ऋषि – मुनियों की आध्यात्मिक विरासत की बहुमूल्य पद्धति योग विधा के रूप में प्राप्त हुई है। यद्यपि योग विधा का मुख्य उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति है, परन्तु यौगित अभ्यासों से आध्यात्मिक लक्ष्य तो प्राप्त होता है। उसके साथ–साथ प्रत्यक्ष लाभ होता है। योग के अभ्यासों से शारीरिक एवं मानसिक लाभ प्राप्त होते है।

योग चिकित्सा में योग दर्शन के अन्तर्गत योगागों (अष्टांग योग) का अनुष्ठान करके मनुष्य जीवन के मानसिक विक्षेपों से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। महर्षि पतंजलि ने योगांगों के साथ चित्त को प्रसन्न रखने के लिए चित्त प्रसादन के उपाय द्वारा चित्त को उत्कृष्टता प्रदान की जा सकती है।

शारीरिक एवं मानसिक चिकित्सा योग की सबसे महत्वपूर्ण चिकित्सा उपलब्धियों में से एक है। यह विधाा सामंजस्य एवं एकीकरण के सिद्धान्त पर आधारित होन के कारण ही यह इतनी सशक्त एवं प्रभावकारी विद्या है।

योग दर्शन में चिकित्सा के सिद्धान्त इस प्रकार से है –

योग दर्शन केवल आध्यात्मिक उन्नति तक सीमित नहीं है बल्कि इसके शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिये चिकित्सा संबधी सिद्धान्त भी नीहित हैं । महर्षि पतंजलि के योगसूत्र और अन्य योग के ग्रन्थों में ऐसे सिद्धान्त मिलते है। जो समग्र स्वास्थ्य को उन्नत बनाते है। जो चिकित्सा के रूप में कार्य करते है।

1.3.1 चित्त विकारों का निवारण

महर्षि पतंजलि के योगसूत्र के अनुसार योग का मुख्य उद्देश्य चित्त की वृत्तियों का निरोध करना है। जैसा कि योगसूत्र में वर्णन है –

''योगश्चित्त वृत्ति निरोधः'' (पा0यो0सूत्र 1/2)

अर्थात् चित्त की वृत्तियों को नियंत्रित करना ही योग है।

चित्त को नियंत्रित करने के उपायों का वर्णन पातंजल योगसूत्र में किया गया है। जिसके अन्तर्गत यम नियमों का वर्णन किया गया है। अष्टांग योग के अन्तर्गत सर्वप्रथम यमों (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) के माध्यम से चित्त को परिष्कृत किया जा सकता है।

नियम के अन्तर्गत आंतरकि अनुशासन के रूप में (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान) का वर्णन किया गया है। जिनके द्वारा चित्त के विकारों का वर्णन किया जा सकता है।

1.3.2 योग का चिकित्सा विज्ञान

योग केवल आध्यात्मिक उन्नति का साधन ही नहीं बल्कि समग्र चिकित्सा पद्धति भी है। योग की चिकित्सा प्रणाली चार प्रमुख स्तम्भों पर आधारित है –

- **शुद्धि (Purification) –** शरीर, प्राण, मन और बुद्धि की शुद्धि।

योग साधना के अन्तर्गत शरीर, मन, एवं प्राण की शुद्धि पर बल दिया जाता है। इसमें हठयोग में सप्त साधनों का वर्णन शारीरिक शुद्धि के लिए किया गया है।

योग दर्शन में चित्त की शुद्धि के लिए साधकों की श्रेणी के अनुसार क्रमशः अष्टांग क्रिया योग एवं अभ्यास वैराग्य का वर्णन किया गया है।

योगदर्शन में महर्षि पतंजलि ने योग को परिभाषित करते हुए वर्णन किया है –

"योगश्चित्त वृत्ति निरोधः" (पा0यो0सूत्र 1/2)

अर्थात् चित्त की वृत्तियों को नियंत्रण ही योग है।

अर्थात् योग मन की चंचलता को रोककर उसे स्थिर करने की प्रक्रिया है।

महर्षि पतंजलि द्वारा प्रतिपादित अष्टांग योग चिकित्सा का प्रमुख आधार है।

1.3.3 अष्टांग योग और उसके चिकित्सीय लाभ

1– यम (नैतिक अनुशासन) – मानसिक और सामाजिक स्वास्थ्य यम के पालन से प्राप्त किया जा सकता है। यम 5 है, जो निम्न है –

1. **अहिंसा** – मनसा, वाचा, कर्मणा किसी भी प्राणी को कभी भी किसी प्रकार से दुःख न देना अहिंसा है।

   अहिंसा के पालन से हिंसक से हिंसका प्राणी भी बैर त्याग कर देता है। इसके अभ्यास से मन, वचन, कर्म से द्वेष, बैर भाव समाप्त होता है। तथा व्यापक प्रेम एवं भाईचारे की भावना का विकास होता है। मात्र अहिंसा के पालन से ही चित्त की शुद्धि की जा सकती है, और भावनाओं को परिष्कृत किया जा सकता है। मानसिक विकारों से मुक्त होते है।

2. **सत्य** – सत्य के द्वारा हम अपनी वाणी संयमित व पवित्र बना सकते है। सत्य की पवित्रता से व्यक्ति की वाणी में तेज और अमोध शक्ति प्राप्त होती है।
3. **अस्तेय** – अस्तेय का तात्पर्य है दूसरे के धन, वस्तु या विचारों को अपने हित में प्रयोग ना करने की पृवृत्ति का होतना, अस्तेय की प्रतिष्ठा होने पर ईर्ष्या, लोभ, द्वेष आदि भाव नहीं आते है। जिससे मानसिक विकारों से मुक्ति मिलती है।
4. **ब्रहमचर्य** – ब्रहमचर्य की प्रतिष्ठा होने पर साधक के मन व शरीर की शु0 होती है। साथ ही साथ उसे सामाजिक तथा शारीकिर दृष्टि से सामर्थ्य लाभ प्राप्त होता है। कलुषित वासनामय चित्त शुद्ध होता है, तथा मानसिक पवित्रता, शुद्धता, शान्ति प्राप्त होती है।
5. **अपरिग्रह** – अपने स्वार्थ के लिए आवश्यकता से अधिक धन का संपत्ति संचय करना परिग्रह है। इसका अभाव अपरिग्रह है। अतः अपरिग्रह के पालन से आवश्यकता से अधिक धन, या भौतिक सम्पत्ति या वैचारिक कूड़ा जो हम एकत्र किए रहतें है। वह समाप्त हो जाता है। चित्त शुद्ध होने लगता है।

इस प्रकार पॉचों यमों के पालन से हम अपने कर्तव्य कर्मो का पालन करने लगते है। जिसके पालन से हम सामाजिक, मानसिक व आध्यात्मिक उन्नति करते है। शुद्ध व्यवहार व पवित्र बुद्धि से निरन्तर उन्नति पथ पर अग्रसर होते हैं।

2– नियम – आत्म अनुशासन, मानसिक शुद्धि, नियम पॉच हैं, जिनका वर्णन निम्न है –

1. **शौच –** शौच से तात्पर्य शुचिता या पवित्रता है। वाह्य और आंतरिक शुचित (स्वच्छता) शरीर और मन शुद्ध होता है।
2. **संतोष –** संतोष से मानसिक संतुलन बनता है। पूर्ण पुरूषार्थ के बाद जितना मिला उसी से संतुष्ट रहना संतोष है। जिसके फल के रूप में उत्तमोत्तम सुख की प्राप्ति होती है।
3. **तप –** 'तपो द्वन्द सहनम्' अर्थात् द्वन्दों को सहन करना ही तप है। तप से आत्म संयम और सहनशक्ति की प्राप्ति होती है।
4. **स्वाध्याय –** स्वाध्याय से तात्पर्य स्व का अध्ययन करना और सद्ग्रथों का अध्ययन करना है। स्वाध्याय से आत्म–चिन्तन होता है। जिससे मानसिक शक्ति मिलती है।
5. **प्रणिधान –** ईश्वर प्रणिधान से व्यक्ति चिंता मुक्त रहता है। आत्मबल प्रबल होता है।

3– आसन – शारीरिक एवं मानसिक संतुलन, हठयोगब के विभिन्न आसन शरीर का लचीला एवं रोगमुक्त रखते है। हठयोग के ग्रन्थों में तीन तरह के आसनों का वर्णन मिलता है –

1. **शरीर संवर्द्धनात्मक आसन**
2. **ध्यानात्मक आसन**
3. **विश्रान्तिकारक आसन**

इन आसनों से शरीर स्वस्थ रहता है, एवं सुदृढ़ होता है।

4– **प्राणायाम –** श्वास प्रश्वास पर नियंत्रण , मनोवैज्ञानिक एवं शारीरिक उपचार महर्षि पतंजलि ने चार प्रकार के प्राणायाम बताए है –

1. **वाह्यवृत्ति प्राणायाम**
2. **आभ्यान्तर वृत्ति प्राणायाम**
3. **स्तंम्भ वृत्ति प्राणायाम**
4. **वाह्य स्तंम्भ आभ्यान्तर वृत्ति प्राणायाम (विषयाक्षेपी)**

प्राणायाम के अभ्यास नाड़ी तंत्र को संतुलित करते है। श्वसन तंत्र मजबूत होता है। मस्तिष्क सक्रिय होता है, और शरीर से विषाक्त पदार्थ बाहर निकलते है। प्राणायाम से अन्तःस्रावी ग्रन्थियॉ तथा चयापचयात्मक क्रियाओं का विकास होता है। हृदय तथा फेफड़ों की क्रियाओं में सुधार होता है। प्राणायाम एक विशिष्ट प्रकार की विधि है जिससे शारीरिक तथा मानसिक स्वस्थता का अनुभव होता है।

5– **प्रत्याहार –** (इन्द्रिय निग्रह) मानसिक नियंत्रण, पतंजलि के अनुसार प्रत्याहार अन्तरंग तथा बहिरंग अवस्थाओं में सेतु रूप है। प्रत्याहार से तात्पर्य है इन्दियों को उनके विषयों से पृथक रखना।

व्यावहारिक रूप से प्रत्याहार जीवन के अवांछनीय प्रवाह से स्वयं को समेटने व आत्मोन्मुख करने का अभ्यास है। इससे साधक अपनी इन्द्रियों, विचारों एवं भावनाओं पर नियंत्रण प्राप्त कर लेता है।

6– **धारणा –** महर्षि पतंजलि के अष्टांग योग के छठे अंग के रूप में धारणा का वर्णन किया गया है। धारणा अर्थात् किसी एक देश (स्थान) पर चित्त को ठहराना।

धारणा एक प्रकार का मानसिक व्यायाम एकाग्रता, धारणा के अभ्यास से एकाग्रता व स्थिरता में वृद्धि होती है। जो कि व्यक्तित्व विकास में सहायक है। ध्यान केन्द्रित होने लगता है। मनोवैज्ञानिक समस्याएं कम होने लगती है।

7– **ध्यान –** जहॉ चित्त को लगाया जाए उसी में वृत्ति का एकतार चलना ध्यान है। ध्यान के अभ्यास से चेतन मन जाग्रत होता है। ध्यान से मन र्निविषय हो जाता है। मन सशक्त और संगठित होता है। अवसाद, चिंता, अनिद्रा, मानसिक विकारों को ठीक करती है।

8– **समाधि –** अष्टांग योग का अंतिम लक्ष्य समाधि है। यह मन की समस्त वृत्तियों के निरूध की अवस्थाा है।

जब ध्यान में केवल ध्येय मात्र की प्रतीति होती है और चित्त का निज स्वरूप शून्य हो जाता है तब वहीं ध्यान समाधि हो जाता है। इस स्थिति में किसी तरह का तनाव नहीं रहता, द्वन्द नहीं रहता, यह मानसिक स्वास्थ्य, संतुलन एवं कार्य – क्षमता की चरण अवस्था है। भारतीय चिंतन में जीवन का परम लक्ष्य एवं पर ध्येय भी यहीं है।

योग दर्शन में मानसिक, आध्यात्मिक उपचार– क्रिया योग से –

महर्षि पतंजलि ने मानसिक विकार के रूप में पॉच प्रकार के क्लेश बताए है –

- अविद्या (अज्ञान)
- अस्मिता (अहंकार)
- राग (आसक्ति)
- द्वेष (घृणा)
- अभिनिवेश (मृत्युभय)

ये क्लेश मन और शरीर दोनों विकारों का कारण बनते है। महर्षि पतंजलि ने क्रिया योग (तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान) एवं ध्यान द्वारा इन क्लेशों का नाश होता है और व्यक्ति मानसिक रूप से स्वस्थ होता है।

योग दर्शन में वर्णित अभ्यास – वैराग्य दो प्रमुख उपचार साधन

महर्षि पतंजलि ने अभ्यास का वर्णन इस प्रकार किया है –
अभ्यास वैराग्याभ्यं तन्निरोधः।।

- **अभ्यास – "तत्र स्थितायत्नोभ्यास"**

  अर्थात् चित्त की स्थिरता के लिए यत्नपूर्वक प्रयत्न अभ्यास है। अभ्यास व्यक्ति को उसके लक्ष्य तक पहुॅचाता है। व्यक्ति शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त कर अवांछनीय कार्यो से मुक्त होता है। और अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है। जैसा कि कहा गया है –

  "करत–करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान।
  रस्सी आवत जात है। सिर पर पड़त निशान ।।

- **वैराग्य –** वैराग्य द्वारा इन्द्रिय योगों और मानसिक विर्कषणों से मुक्ति मिलती है, और तनाव और चिंता से छुटकारा मिलता है।

- **विवेक ख्याति –** आत्म ज्ञान से उपचार –
- विवके ज्ञान की निरन्तर जागरूकता क्लेशों की निवृत्ति का उपाय है।
- जब व्यक्ति में आत्मा और शरीर का भेद ज्ञान होता है। तब वह अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान कर आत्मिक शक्ति प्राप्त कर लेता है।

1.3.4 योग का वैज्ञानिक प्रभाव

- योग से नर्वस सिस्टम, संडोकाइन सिस्टम और इम्यून सिस्टम का संतुलन सुधरता है।
- योग से आहार एवं व्यवहार और विचार शुद्ध होते है। जिससे तनाव, अनिद्रा, ब्लड प्रेशर, मधुमेह, डिप्रेशन आदि से मुक्ति मिलती है।
- अनेकों शोध द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि योग से शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य बेहतर होता है।

1.4 सारांष

योग दर्शन केवल एक दार्शनिक प्रणाली नहीं, बल्कि एक सम्पूर्ण चिकित्सा विज्ञान है। इसके अनुसार रोगों का कारण केवल बाहरी नहीं है। अन्तर्मन की अशुद्धियों और विकार माने गये है। योग साधना शरीर, मन, आत्मा को संतुलित कर रोगों को जड़ से समाप्त करती है। योग चिकित्सा न केवल उपचार का मार्ग है। बल्कि एक रोग निवारक और जीवन की उन्नति का मार्ग है।

इकाई.3 आाधुनिक चिकित्सा विधि के रूप में योग

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देष्य
3.3 आाधुनिक चिकित्सा विधि के रूप में योग
3.4 योग द्वारा विभिन्न रोगों की चिकित्सा
3.5 सारांष
3.6 पारिभाषिक षब्दावली
3.7 अभ्यास प्रष्नों के उत्तर
3.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
3.9 निबन्धात्मक प्रष्न

3.1 प्रस्तावना

प्रिय षिक्षार्थियों

पूर्व इकाई में आपने चिकित्सा के सिद्वान्तों के विषय में जाना प्रस्तुत इकाई में आधुनिक चिकित्सा विधि के रूप में योग कि प्रासंगिकता को जानेंगे।

योग चिकित्सा के रूप में योग का उपयोग व्यायाम के रूप में किया जाता हैए जिसमें मुख्य रूप से आसन नामक मुद्राएँ शामिल होती हैं। व्यायाम और विश्राम का एक सौम्य रूप जिसे विशेष रूप से स्वास्थ्य में सुधार के उद्देष्य से लागू किया जाता है। योग चिकित्सा एक प्रकार की चिकित्सा है जिसमें योग आसन श्वास व्यायाम ध्यान और निर्देशित कल्पना का उपयोग मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य को बेहतर बनाने के लिए किया जाता है। योग चिकित्सा का समग्र ध्यान मन शरीर और आत्मा के एकीकरण को प्रोत्साहित करता है। योग आधुनिक चिकित्सा में पूरक चिकित्सा के रूप में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

3.2 उद्देष्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पष्चात् आप–

- आधुनिक चिकित्सा विधि के रूप में योग के महत्व को जान सकेंगे।
- योग द्वारा विभिन्न रोगों की चिकित्सा करने में समर्थ हो सकेंगे।

3.3 आधुनिक चिकित्सा विधि के रूप में योग

योग एक जीवनशैली है, अनुशासन है। महर्षि पतंजलि के अनुसार अथ योगानुशासनम् द्वारा इसकी पुष्टि होती है। योग वास्तव में जीवन के लक्ष्य अर्थात् ईश्वर को प्राप्त करने का एक विज्ञान है परंतु जैसे–जैसे मनुष्य आधुनिक होता गया वैसे–वैसे वह यौगिक दिनचर्या से विमुख हो गया और योग वास्तव में जीवन शैली ही है परंतु इस जीवन शैली को हटाने के पश्चात् मनुष्य में रोग, शोक आदि समस्याएं उत्पन्न हो गई। जब व्यक्ति कई प्रकार की समस्याओं से जूझ रहा है और उसके पास इसका कोई परमानेंट समाधान नहीं है तो व्यक्ति पुनः योग को अपना रहा है। योग को वह जीवनशैली के साथ –साथ चिकित्सा पद्धति के रूप में भी ग्रहण कर रहा है। सर्वप्रथम एनसी0 पॉल ने 1851 में शरीर क्रिया विज्ञान संबधी एक अध्ययन में योग के चिकित्सीय पहलुओं का वर्णन किया, जिसकी व्याख्या उन्होंने अपनी पुस्तक '**ट्रीटीज ऑन योग फिलासफी**' में की।

इसके पश्चात् सन् 1918 में हठयोगी विशेषज्ञ योगेद्र ने द योग इंस्टीटयूट की स्थापना की जिसमें हठयोगी के अभ्यास विशेषकरी आसन और प्राणायाम की वैज्ञानिकता को सिद्ध किया जाने लगा। योगेद्र ने योग आसान सरलीकृत और योग पर्सनल हाइजीन में इसका वर्णन किया। वहीं 1924 में कैवल्यधाम स्वास्थ्य और योग अनुसंधान केन्द्र की स्थापना स्वामी कुवल्यानन्द जी द्वारा की गई।

फिजियोलॉजिस्ट केटी बेहनन की पुस्तक योग ए साइंटिफिक इवैल्यूएशन (1937) ने योग चिकित्सा की ओर पुनः प्रकाश डाला। 1970 में क्रिस्टोफर हिल्स द्वारा नई दिल्ली में वैज्ञानिक योग पर विश्व सम्मेलन का

आयोजन किया गया, जिसमें कुल 850 प्रतिभागी उपस्थित रहे। इसके पश्चात् योग को चिकित्सा के रूप में स्वीकार कर लिया गया। मनोरोग विशेषज्ञ में माइकेला पास्को ने तनाव और अवसाद पर योग के प्रभाव पर प्रकाश डाला। 1998 में अमेरिका राष्ट्रीय स्वास्थ्य संस्थान में योग अनुसंधान पर कार्य की शुरूआत की।

योग चिकित्सा के दृष्टिकोण से देखें तो हमारा शरीर योग की प्रयोगशाला है। मानव जीवन के लिए देवता भी तरसते हैं। मन, बुद्धि, अहंकार यह प्रयोगशाला शोध के उपकरण है। अभ्यास वैराग्य और एकाग्रता शोध कार्य के शोध सहायताकता है। आधुनिक चिकित्सा के साथ–साथ योग एक चिकित्सा पद्धति के रूप में मुख्य धारा में आ गई है। आधुनिक चिकित्सा और योग चिकित्सा का विवेकपूर्ण मिश्रण करने से हम किसी भी बीमारी का नाश कर सकते हैं। कुछ समस्याओं में एलोपैथी को पूर्ण रूप से प्रयोग में लाने के पश्चात् ही योग जिनकी साख उपयोग में लाना चाहिए वहीं कुछ समस्याएं भी हैं। जिनमें योग पूर्ण रूप से कारीगर है। जैसे न्यूरो संबधी रोग और मनोरोगों में योग आश्चर्यजनक रूप से प्रभाव डालता है। योग की अग्निसार क्रिया योग निद्रा, त्राटक, भ्रामरी प्राणायाम कलारंध्र धोती और ध्यान के अभ्यास मस्तिष्क की संरचनाओं को भी बदलने की क्षमता रखते है। नेशनल इस्टिट्यूट ऑफ हेल्थ के अनुसार योग को रोग के उपचार के साथ–साथ रोकथाम का उपाय बताती है। वैसे भी इलाज से बेहतर बचाव है।

योग GABA, सेरोटोनिन, डोपामिन (अवसाद चिंता में कमी) मेलाटोनिन (अनिद्रा की समाप्ति) ऑक्सीटोसिन लेप्टिन, एडीपोनेक्टिन (सूजन कम करना) के स्तर में वृद्धि करता है। वही योगाभ्यास टेलोमेरेस को भी स्थिर करता है, जिससे हृदय रोग, स्ट्रोक, कैंसर, मनोभ्रंश, अल्जाइमर आदि समस्याएं समाप्त होती है।

3.4 योग द्वारा विभिन्न रोगों की चिकित्सा

योग चिकित्सा में विभिन्न रोगों की चिकित्सा निम्न रूप से की जाती है –

1. सिरदर्द – मनुष्य सामान्य सिरदर्द से लेकर तीव्र सिरदर्द से ग्रसित है। जिसके कई कारण है। पाचन तंत्र से संबधित समस्या, तीव्र बुखार, ऑखों से संबधित समस्या माइग्रेन ट्यूमर आदि भी रखता है। रोगी को चाहिए कि वह सर्वप्रथम सिरदर्द के प्रकार को पहचाने तत्पश्चात् सिरदर्द के प्रकार के अनुरूप ही योग विधियों का चयन करें। सिरदर्द के रोगी को प्रतिदिन जल नेति और कुंजल का अभ्यास करना चाहिए।

यदि सिरदर्द का कारण पाचन तंत्र से संबधित समस्या है तो रोगी को सप्ताह में एक दिन विवेकपूर्ण उपवास करना चाहिए। लघुशंख प्रक्षालन का अभ्यास भी विशेष लाभ प्रदान करता है। आसन में सरल आसनों से कठिन आसनों की ओर बढ़ना चाहिए। सूक्ष्म व्यायाम से लेकर सूर्यनमस्कार तक का अभ्यास मध्यम गति से करना चाहिए। प्राणायााम में भ्रामरी प्राणायाम और नाड़ीशोधन का अभ्यास अच्छा प्रभाव दे। सिरदर्द का कारण कई बार दमित इच्छाएँ भी होती है।

यदि ऐसा है तो रोगी को योगनिद्रा का अभ्यास करवाना चाहिए। योग चिकित्सा में सिरदर्द हेतु दर्द निवारक और दर्द के रोकथाम की प्रक्रिया अपनायी जाती हे। योग के अभ्यास चिंता, तनाव, अवसाउद को दूर कर जीवन की गुणवत्ता को बढ़ाता हैं, जिससे स्वायत्त तंत्रिका तंत्र संतुलित होता है जो दर्द निवारण एवं दर्द के रोकथाम के लिए महत्वपूर्ण है।

सेरोटोनिन स्राव के असंतुलन, नोसिसेप्टिव दर्द तंतुओं की संवेदनशीलता में वृद्धि और ट्राइजेमिनल–ऑटोनोमिक रिफलेक्स के ट्रिगर को योग के नियमित अभ्यास से संतुलित किया जाता है। जिससे सिरदर्द में राहत मिलती है।

2. कब्ज – कब्ज एक ऐसी स्थिति है, जिसमें व्यक्ति के मल का निष्कासन या तो शीघ्रता से नहीं होता या कई–कई दिनों तक होता ही नहीं है। देर तक बैठकर कार्य करने अर्थात् शारीरिक रूप से कम क्रियाशील रहने के कारण व्यक्ति कब्ज से ग्रसित हो जाता है। कब्ज रोग अधिकतर उन लोगों को होता है जो मानसिक सोच–विचार में अधिक फंसे रहते है। कब्ज के रोगियों को रोग की अवस्था के आधार पर शंख प्रक्षालन करना चाहिए। यदि रोगी को तीव्र कब्ज है, तो कुछ दिनों तक लगातार लघु शंखपक्षालन का अभ्यास करना चाहिए।

रोगी की स्थिति के अनुसार 15 दिन में बार पूर्ण शंखप्रक्षालन का अभ्यास करना चाहिए। कब्ज रोगियों की जठराग्नि भी मंद होती है। जठराग्नि को तीव्र करने वाले अभ्यास जैसे– अनिसार धौति, नौलि क्रिया, उड्डियान बंध और विपरितीकरण मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। ऑतों की मांसपेशियों को सबल बनाने हेतु वस्ति, मूलबंध, अश्विनी मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। वस्ति प्रदेश वात का स्थान है। अतः सूर्यभेदी और भस्त्रिका अभ्यास द्वारा भी कब्ज में लाभ होता है। सूर्यनमस्कार अक्रियाशीलता के कारण कमजोर पड़ी मांसपेशियों को पुनर्जीवित करता है। वही उदरस्थ अंगों को मजबूती देने के लिए चक्की चालासन, नौका संचालन, पश्चिमात्तान आसन, उत्तनपादासन, सुप्त पवनमुक्तासन, नौकासन मण्डुकासन मत्स्येन्द्रासन का अभ्यास करना चाहिए।

वारिसार धौति के अभ्यास में किये जाने वाले पांच. आसनों **ताड़ासन, तिर्यक ताड़ासन, कटि चक्रासन, भुजंगासन और उदराकर्षण** अभ्यास प्रतिदिन सुबह कुनकुनार पानी पीकर करना चाहिए। पानी पीकर किया गया मत्स्यासन का अभ्यास भी विशेष लाभकारी है।

3. सर्वाइकल स्पाण्डिलाइटिस – सर्वाइकल स्पाण्डिलाइटिस में रीढ़ हड्डी के ऊपरी हिस्से अर्थात् गर्दन में दर्द, खिंचवा, कड़ापन, सूजन आदि समस्याएं उत्पन्न हो जाती है। कई बार यह दर्द कंधे ऑखों, हाथ औरा सिर की ओर भी जाता है। यौगिक चिकित्सा में सर्वप्रथम गर्दन की मांसपेशियों की क्रियाशीलता को पुनः लौटाने का कार्य किया जाता है। इसके लिए गर्दन के सूक्ष्म व्यायामों के अभ्यास कराये जाने चाहिए। भुजंगासन, सर्पासन, मकरासन, धनुरासन, मार्जारी, मत्स्येद्रासन आदि का अभ्यास सावधानीपूर्वक करने से लाभ प्रदान करता है। नाड़ीशोधन के अभ्यास में पूरक के साथ प्राण ऊर्जा को दर्द के स्थान पर पहुंचाये और रेचक के साथ उस दर्द का शरीर से बाहर जाने का भाव करें। योगाभ्यासों के लगातार अभ्यास से

लेप्टिन तथा एडीपोनेक्टिन रसायन के स्तर में वृद्धि होती है। जिससे सूजन समाप्त होती है। योगासनों के नियमित अभ्यास से आस्टियोफाइटस नामक स्पर्स की अनियमित हड्डी की वृद्धि में रोकथाम होती हे। योगाभ्यासों द्वारा इंटरबर्टेबजल डिस्क में खिचांव उत्पन्न होता है। जिससे उस स्थान पर रक्त संचार सुचारू होता है। जिससे सर्वाइकल स्थान की तंत्रिकाओं में प्राण ऊर्जा का संचार होता है। योगाभ्यास के अभ्यास द्वारा गर्दन, कंधे की हड्यिों बॉहों और हाथों की मांसपेशियों में असंतुलन दूर होता है। जिससे दर्द में राहत मिलती है।

4. दमा – दमा श्वसनतंत्र से संबधित रोग है। दमा रोग में श्वसन मार्ग में संकुचन, जकड़न और कफ का जमाव होता है। यह अत्यन्त पीड़ादायक स्थिति है क्योंकि दमा रा रोगी सही तरीके से श्वसन नहीं कर पाता है। ऑक्सीजन की पर्याप्त पूर्ति ना हो पाने के कारण रोगी सदैव थका–थका रहता है। दमा का कारण कई बार अनुवांशिक होता है और कई बार अस्त–व्यस्त जीवनशैली के कारण भी होता है। दमा से मुक्ति हेतु शरीर पर गर्म प्रभाव डालने वाले और फेफड़ों की क्रियाशीलता को बढ़ाने वाले अभ्यास करने चाहिए।

योगाभ्यास द्वारा फेफड़ों की मांसपेशियों को मजबूती मिलती है। जिससे फेफड़ों की कार्यक्षमता बढ़ती है। जिससे सांस लेने में तकलीफ नहीं होती है।

दमा का मुख्य कारण भावनात्मक रूप से अति संवेदनशील होना है तथा ठंड के मौसम में सही आहार–विहार न रखने के कारण भी दमा रोग हो जाता है। कई व्यक्ति वातावरण में ठंड, नमी, प्रदूषण अदि के प्रति संवेदनशील होते हैं, उन्हें भी दमा रोग हो जाता है अर्थात् जो व्यक्ति संवेदशील है, चाहे शारीरिक रूप से हो या भावनात्मक रूप से उन्हें दमा होने की संभावना ज्यादा होती है। सामान्यतः ऐसे व्यक्ति, चिंता, अवसाद, घबराहट, असुरक्षा का भाव, तनाव, ईर्ष्या, द्वेष, कुंठा, घृणा आदि भावनाओं से घिरे रहते है। अस्थमा रोग की योग चिकित्सा में सर्वप्रथम श्वसन नालियों में प्राण ऊर्जा का संचार किया जाता है। योग के नियमिल अभ्यास जैसे भस्त्रिका प्राणायाम द्वारा वायु मार्ग की पेशियां को बल मिलता है। जिससे वायु मार्ग का घर्षण तनाव कम होता है तथा भस्त्रिका प्राणायाम कफ का भी कम करता है तथा फेफड़ों को पुनर्जीवित करने का कार्य करता है।

दमा रोग में जल नेति क्रिया, कुंजल क्रिया और शंखप्रक्षालन के अभ्यासों द्वारा एलर्जी तथा श्लेष्मा का नाश होता है तथा पाचन तंन्त्र को बल मिलता है। दमा के रोगियों को क्षमतानुसार सूर्य नमस्कार का अभ्यास करवाना चाहिए क्योंकि यह शरीर को शारीरिक और मानसिक बल प्रदान करता है। सूर्य नमस्कार जहां हमारी मांसपेशियों पर प्रभाव डालता है। वहीं वह अंतस्रावी ग्रन्थियां के माध्यम से हमारे सम्पूर्ण शरीर की क्रियाप्रणाली पर डालता है। वही छाती कंधे और श्वसन मार्ग को प्रभावित करने वाले अभ्यास नौका संचालन, हस्तोतानासन, सर्पासन, भुजंगासन, धनुरासन, मत्स्यासन, गोमुखासन, लोलासन, मकरासन आदि का नियमित अभ्यास करना चाहिए। भस्त्रिका प्राणायाम के नियमित अभ्यास के पश्चात् जब फेफड़े क्रियाशील होने लगे तो नाड़ी शोधन प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। यह व्यक्ति

के मानसिक अवरोधों को समाप्त करता है। दमा रोगी को योगनिद्रा का अभ्यास प्रतिदिन करना चाहिए क्योंकि योग निद्रा के अभ्यास से वह अचेतन में पड़े हुए विचारों से अवगत हो पाता है और उसको चेतन जगत में लाकर समस्या का समाधान कर पाता है।

5. तनाव – तनाव एक ऐसी स्थिति है, जिसमें व्यक्ति की आतंरिक स्थिति नकारात्तक हो जाती है। ऐसी दिशाएं जिनसे व्यक्ति समायोजन नहीं कर पाता, वह तनाव का कारण बनती है। तनाव की स्थिति में लंबे समय तक बने रहने के कारण चयापचय क्रिया प्रभावित होती है, जिससे व्यक्ति में प्राण ऊर्जा की कमी बनी रहती हे। असफलता का भय, अनिश्चितता, समयाभाव, पारिवारिक कलह, आकस्मिक आघात, हीनभावना एवं अहंभाव के कारण तनाव उत्पन्न हो जाता है। जब व्यक्ति की महत्वकाक्षां की पूर्ति नहीं हो पाती है या ज बवह प्रतिकूल परिस्थितियों से समायोजन ना कर पाये तो इससे वह वास्तविक दुनिया और वांछित दुनिया के बीच का अंतर नहीं कर पाता है।

तनाव के रोगियों में एलर्जी, थकान, उत्तेजना, अशांति, शारीरिक दर्द, पाचन संबधी रोग जैसे अल्सर, ऐंठन, कब्ज, डायरिकया, थायराइड संतुलन, अनियमित धड़कन, उच्च रक्तचाप, हार्टअटैक, संक्रमण आदि समस्याएं उत्पन्न हो जाती है अर्थात् तनाव की स्थिति में व्यक्ति के शरीर में सुखद हार्मोन के स्राव में कमी हो जाती है। जैसे सेरोटोनिन और एड्रीनलीन और डोपामाइन, दूसरा व्यक्ति कीपाचन प्रक्रिया असंतुलित हो जाती है। तीसरा रक्त धमनियों के संकुचित होने के कारण मस्तिष्क में पर्याप्त आक्सीजन भी नहीं पहुंच पाता है। योग चिकित्सा के अभ्यास द्वारा सेराटोनिन के स्राव में बढ़ोत्तरी होती है । जिससे कोर्टिकोसोल हार्मोन का उत्पादन बढ़ता है। जो भूख, क्रोध, चोट, अनिद्रा आदि से मुक्ति प्रदान करता है वहीं योग की क्रियाएँ शरीर में नोरैड्रेनलिन के उत्पादन में वृद्धि होती है। जिससे आलस्य प्रमाद, उदासीनता आदि समस्याएँ समाप्त हो जाती है। योग की कई क्रियाएँ डोपामाइन के उत्पादन में बढ़ोत्तरी करती है। जिससे एडार्फिन के उत्पादन में बल मिलता है।

आसनों में सूर्य नमस्कार, शक्तिबंध के अभ्यास 1,2 वीरासन, सिंहगर्जन आसन जैसे आसनों का अभ्यास करना चाहिए। सिंहगर्जन जैसे आसन व्यक्ति को अपने भीतर क्रोध, कुंठा, विद्वेष को बाहरन निकालने में मदद करते हैं। व्यक्ति हीन भावना असफलता के भय और असुरक्षा की भावना, दमन जैसी समस्याओं से मुक्त हो जाता है। एकाग्रता बढ़ाने वाले आसन जैसे वृक्षासन, ताड़ासन, नटराजासन, बीरासन आदि आसन का अभ्यास करने से व्यक्ति के विचारों को एक निश्चित दिशा प्रदान होती है। जिससे वह तनाव से मुक्त हो सकता है। अग्निसार, कपालभॉति जैसे षट्कर्मो के अभ्यास भी रोगी के तनाव को बढ़ाने से रोकते हैं। प्राणायाम में शीतली प्राणायााम, शीतकारी प्राणायाम और भ्रामरी प्राणायाम भी तनाव के लिए उपयोगी अभ्यास है। भ्रामरी प्राणायाम, नाड़ीशोधयन प्राणायाम , ध्यान और योगनिद्रा जैसे अभ्यास व्यक्ति को तनाव मुक्त करने के लिए रामबाण उपाय है।

3.6 सारांष

योग आध्यात्मिक उन्नति का पथ है। यह कोई रोग निवारण चिकित्सा पद्धति नहीं है। योग वास्तव में मनुष्य की अंतर्निहित अंतःशक्तियों एवं आंतरिक प्रतिभाओं को दृष्टिगोचर करता है। योग चिकित्सा पद्धति नहीं है। परन्तु योग की विभिन्न प्रक्रियाएं मनुष्य को शारीरिक एवं मानसिक बल प्रदान करती है। जिससे स्वतः ही स्वास्थ्य लाभ प्राप्त हो जाता है। योग चिकित्सा हेतु यह जानना आवश्यक है कि रोग किस अवस्था का है। यदि रोग अत्यंत अवस्था में है तो सर्वप्रथम योग चिकित्सक को अपनी वस्तुनिष्ठता का परियच देते हुए यह निर्धारित करना चाहिए कि क्या रोगी को एलोपैथी दवाइयां की आवश्यकता है। यदि दवाइयों की आवश्यकता हो तो एलोपैथिक चिकित्सा शुरू करवा देनी चाहिए। ध्यान रखें किसी भी चिकित्सक का प्रथम कर्तव्य रोगी को आराम पहुॅचाना है ना कि अपनी चिकित्सा पद्धति को सर्वश्रेष्ठ साबित करना। रोगी की दवाइयों के साथ–साथ योग चिकित्सा भी शुरू करनी चाहिए और धीरे–धीरे रोगी की दवाइयों में निर्भरता दूर करनी चाहिए। आधुनिक समय में कई तरह की समस्याएं उत्पन्न हो गई है। किसी योग्य चिकित्सा के निरीक्षण में पूर्ण चिकित्सीय परीक्षण करवाना आवश्यक है। यह देखना आवश्यक है कि कौन सा रोग है, क्या केवल एक रोग है या उससे ज्यादा रोग है। रोग कई बार एक–दूसरे से संबधित होते है। जैसे – मोटाप, मोटापा कई अन्य समस्याएं जैसे – मधुमेह, उच्च रक्तचाप, घुटनों में दर्द, कब्ज आदि समस्याओं से संबधित रहता है।

इकाई.3 योग दर्शन एवं गीता में मानसिक स्वास्थ्य

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 योग दर्शन में मानसिक स्वास्थ्य
3.4 मानसिक स्वास्थ्य पर अष्टांग योग का प्रभाव
3.4.1 यम सिद्धांतों का मानसिक, शारीरिक, और सामाजिक जीवन पर प्रभाव
3.4.2 नियमों का मानसिक शांति, शारीरिक स्वास्थ्य और आत्म-निर्माण पर प्रभाव
3.5 चित्त की वृत्तियाँ और उनका नियंत्रण
3.6 गीता में मानसिक स्वास्थ्य के सिद्धांत
3.7 अर्जुन के विषाद से मुक्ति का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण
3.8 सारांश
3.9 निबंधात्मक प्रश्न
3.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

3.1 प्रस्तावना

भारतीय आध्यात्मिक परंपरा में मानसिक स्वास्थ्य को अत्यधिक महत्वपूर्ण माना गया है। यह स्वास्थ्य व्यक्ति के आत्मिक, मानसिक और शारीरिक विकास का आधार होता है। योग, ध्यान, भक्ति, ज्ञान और कर्म के माध्यम से मानसिक शांति और संतुलन प्राप्त किया जाता है। मानसिक स्वास्थ्य का तात्पर्य मन, बुद्धि और चित्त की स्थिरता से है, जिसमें व्यक्ति सुख-दुःख, सफलता-असफलता, आशा-निराशा जैसी परिस्थितियों में समान रूप से व्यवहार करता है। भारतीय आध्यात्मिक ग्रंथों में इसे "स्थितप्रज्ञता" (गीता) और "चित्त वृत्ति निरोधः" (योग दर्शन) के रूप में परिभाषित किया गया है।

मानसिक स्वास्थ्य का तात्पर्य व्यक्ति के मानसिक, भावनात्मक और सामाजिक कल्याण से है। यह हमारे सोचने, महसूस करने और कार्य करने की क्षमता को प्रभावित करता है। विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) के अनुसार, मानसिक स्वास्थ्य केवल मानसिक रोगों से मुक्त होने तक सीमित नहीं है, बल्कि यह एक संतुलित और सकारात्मक मानसिक स्थिति को भी दर्शाता है। योग दर्शन मानसिक शुद्धता, आत्म-नियंत्रण और आंतरिक शांति को प्राप्त करने का एक प्रभावी साधन है। पतंजलि योगसूत्र में योग को "चित्त वृत्ति निरोधः" (योगसूत्र 1.2) कहा गया है, जिसका अर्थ है मन की चंचलता को रोकना। भगवद्गीता एक दार्शनिक और आध्यात्मिक ग्रंथ है जो मानसिक तनाव, चिंता और अवसाद से मुक्ति पाने के लिए मार्गदर्शन प्रदान करता है। योग दर्शन और भगवद्गीता मानसिक स्वास्थ्य को संतुलित और मजबूत बनाए रखने के लिए एक प्रभावशाली मार्गदर्शन प्रदान करते हैं। योगाभ्यास, ध्यान और गीता के सिद्धांतों को अपनाकर व्यक्ति मानसिक शांति, संतुलन और आनंद की प्राप्ति कर सकता है।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात् आप

- योग दर्शन में मानसिक स्वास्थ्य को जान पायेंगे
- मानसिक स्वास्थ्य पर अष्टांग योग का प्रभाव को समझ सकेंगे
- पतंजलि योगसूत्र द्वारा मानसिक विकारों का समाधानजान पायेंगे
- चित्त की वृत्तियाँ और उनका नियंत्रणको समझ सकेंगे
- गीता में मानसिक स्वास्थ्य के सिद्धांत को जान सकेंगे

3.3 योग दर्शन में मानसिक स्वास्थ्य

पतंजलि योगसूत्र योग के सबसे प्राचीन और महत्वपूर्ण ग्रंथों में से एक है, जिसमें मानसिक शांति, आत्म-नियंत्रण और आध्यात्मिक उन्नति के मार्गदर्शन दिए गए हैं। मानसिक स्वास्थ्य को बनाए रखने और मानसिक विकारों से मुक्ति पाने में पतंजलि योगसूत्र की शिक्षाएँ अत्यंत प्रभावशाली हैं। महर्षि पातंजली द्वारा पतंजली योग दर्शन के दूसरे अध्याय के तीसरे सूत्र में योग की परिभाषा को एक सूत्र में समझाने का बहुत ही सरल प्रयास किया गया है । **"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"**(योग वह अवस्था है जिसमें चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है।)

इसका अर्थ है, "योग साधना के द्वारा मन की बहिर्मुखी वृत्तियों को अन्तर्मुखी वृत्तियों में परिवर्तित करना ही चित्त है"। चित्त मन का बहुत ही महत्वपूर्ण भाग होता है । योग मानसिक चंचलता, विचारों की अस्थिरता और भावनात्मक उतार-चढ़ाव को रोककर मानसिक स्थिरता

प्रदान करता है। मानसिक विकारों का मुख्य कारण अनियंत्रित चित्त और नकारात्मक विचार होते हैं, जिन्हें योग के माध्यम से संतुलित किया जा सकता है।

3.4 मानसिक स्वास्थ्य पर अष्टांग योग का प्रभाव

अष्टांग योग, जो योग की एक गहरी प्रणाली है, आठ अंगों से मिलकर बनी है, जो मानसिक, शारीरिक और आध्यात्मिक कल्याण प्राप्त करने के लिए मार्गदर्शक के रूप में कार्य करती है। इसमें, यम और नियम वे मौलिक नैतिक सिद्धांत हैं, जो अनुशासित जीवनशैली की नींव होते हैं। यम में अहिंसा (न हिंसा), सत्य (सत्यता), अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य (संयम), और अपरिग्रह (संपत्ति का संकलन न करना) जैसे तत्व शामिल हैं, जो व्यक्ति के मानसिक, सामाजिक और शारीरिक स्वास्थ्य पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं। नियम में शौच (पवित्रता), संतोष (संतोष), तप (अतिथि सत्कार), स्वाध्याय (स्वाध्याय), और ईश्वर प्रणिधान (ईश्वर को समर्पण) होते हैं, जो मानसिक शांति, आत्म-निरीक्षण और व्यक्तिगत विकास को बढ़ावा देते हैं। इन सिद्धांतों का पालन करने से शारीरिक सुख, भावनात्मक स्थिरता और सामाजिक संबंधों में सामंजस्य मिलता है। आजकल की तेज़ और विघटनकारी दुनिया में, जहां ध्यान केंद्रित करना कठिन है, यम और नियम की प्रासंगिकता पहले से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। इन क्रियाओं को बनाए रखने में आने वाली चुनौतियों के बावजूद, ये सिद्धांत जीवन के लिए एक संतुलित दृष्टिकोण प्रदान करते हैं, जो व्यक्ति को सम्पूर्ण विकास, आंतरिक शांति और आध्यात्मिक प्रगति की ओर मार्गदर्शन करते हैं।

पतंजलि योगसूत्र में अष्टांग योग (आठ अंगों का योग) का वर्णन है, जो मानसिक शांति और संतुलन प्राप्त करने के लिए प्रभावी साधन हैं।अष्टांग योग के दो प्रमुख अंग यम और नियम हैं, जो योगी के जीवन को अनुशासित और स्वस्थ बनाने के लिए महत्वपूर्ण सिद्धांतों के रूप में कार्य करते हैं। यम और नियम, दोनों ही नैतिक और आचारिक पहलुओं को सही दिशा में मार्गदर्शन करने के लिए स्थापित किए गए हैं। यम बाहरी आचार-व्यवहार और दूसरों के साथ संबंधों के प्रति सच्चाई, अहिंसा, आदि की शिक्षा देता है, जबकि नियम आंतरिक अनुशासन और आत्म-नियंत्रण से संबंधित होते हैं। इन दोनों का उद्देश्य व्यक्ति को मानसिक और शारीरिक शांति, आत्म-नियंत्रण और आंतरिक उन्नति की ओर प्रेरित करना है। महर्षि पतंजलि के अष्टांग योग को दो भागों में विभाजित किया जाता है -

- **बहिरंग योग**
- **अन्तरंग योग**

1. यम, 2. नियम, 3. आसन, 4. प्राणायाम 5. प्रत्याहार इन पाँच को बहिरंग योग कहा जाता है। तथा 6. धारणा 7. ध्यान और 8. समाधि इन तीन को अन्तरंग योग कहा जाता है।

1. यम (नैतिक अनुशासन) : यमयते नियम्यते चित्ति अनेन इति यम: । अर्थात् चित्त को नियम पूर्वक चलाना यम कहलाता है। यमका अर्थ है नकारात्मक आचार' या 'निषेध'. इसमें उन व्यवहारों और गतिविधियों से बचने का मार्गदर्शन किया जाता है, जो दूसरों और स्वयं के लिए हानिकारक हो सकते हैं।

अहिंसासत्यास्तेयब्रहमचर्यापरिग्रहा यमा: । (2 /30 योगसूत्र)

अर्थात : अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रहमचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम है। इन्हें सार्वभौम महाव्रत भी कहा गया है। ये महाव्रत तब बनते हैं जब इन्हें जाति, देश, काल तथा समय की सीमा में न बांधा जाये।

1. **अहिंसा (Non-violence) -** अहिंसा का अर्थ है किसी भी रूप में हिंसा से बचना, चाहे वह शारीरिक, मानसिक, या वाचिक हो। यह सिद्धांत न केवल दूसरों के प्रति सहानुभूति और सम्मान को बढ़ाता है, बल्कि व्यक्ति के अपने मानसिक स्वास्थ्य को भी बेहतर बनाता है। अहिंसा से मानसिक शांति मिलती है और नकारात्मक भावनाओं जैसे क्रोध, घृणा और द्वेष को दूर करने में मदद मिलती है। शारीरिक रूप से भी अहिंसा व्यक्ति को सशक्त बनाती है, क्योंकि यह तनाव और मानसिक दबाव को कम करती है।याज्ञवल्क्य संहिता में कहा गया है।

मनसा वाचा कर्मणा सर्वभूतेषू सर्वदा।
अक्लेश जननं प्रोक्तमहिंसात्वेन योगिभि:।।

अर्थात : मन, वचन एवं कर्म द्वारा सभी जनों को क्लेश (कष्ट) न पहुँचाने को ही महर्षि जनों ने अहिंसा कहा है।

2. **सत्य (Truthfulness) -** सत्य का पालन करने से व्यक्ति के जीवन में ईमानदारी और पारदर्शिता आती है। यह सिद्धांत न केवल व्यक्ति के आंतरिक शुद्धता को बढ़ाता है, बल्कि समाज में विश्वास और समर्पण की भावना उत्पन्न करता है। सत्य बोलने से मानसिक शांति मिलती है और आंतरिक संघर्षों को समाप्त किया जा सकता है। जब व्यक्ति सत्य के मार्ग पर चलता है, तो वह अपने रिश्तों में ईमानदारी बनाए रखता है, जो सामाजिक जीवन में सामंजस्य और भरोसा लाता है।मनुस्मृति में कहा है सत्य, मित एवं हित भाषी हों।

सत्यं ब्रुयात प्रियं ब्रुयात मा ब्रुयात सत्यमपियम्

अर्थात् :सत्य बोले, परन्तु प्रिय शब्दों में बोले, अप्रिय सत्य न बोलें। परन्तु प्रिय लगने के लिए असत्य भाषण न करें, ऐसा पुरातन विधान है। जैसे नेत्रहीन को अन्धा कह देना सत्य है, चोर को चोर कह देना भी सत्य है किन्तु यह अप्रिय सत्य है।

3. **अस्तेय (non-stealing) -**अस्तेय का अर्थ है चोरी या दूसरों का अधिकार न छीनना। यह सिद्धांत न केवल व्यक्ति को दूसरों के प्रति सम्मान और ईमानदारी सिखाता है, बल्कि उसे आंतरिक संतोष की ओर भी प्रेरित करता है। जब व्यक्ति दूसरों की संपत्ति और अधिकारों का सम्मान करता है, तो उसे शारीरिक और मानसिक शांति प्राप्त होती है। अस्तेय के सिद्धांत से व्यक्ति में आत्मविश्वास और आत्म-सम्मान की भावना विकसित होती है।

अस्तेयं नाम मनोवाक कायकर्मभि: परद्व्येषु नि:स्पृहता। (शांडिल्योपनिषद 1-1)

अर्थात् : शरीर, मन और वाणी से दूसरों के द्रव्य की इच्छा न करना अस्तेय कहलाता है।

4. **ब्रह्मचर्य (Celibacy) -** ब्रह्मचर्य का अर्थ है संयम रखना, विशेषकर यौन ऊर्जा का संयमित उपयोग करना। यह सिद्धांत न केवल शारीरिक स्वास्थ्य के लिए लाभकारी है, बल्कि मानसिक और आत्मिक विकास के लिए भी महत्वपूर्ण है। ब्रह्मचर्य से व्यक्ति के मानसिक बल में वृद्धि होती है और वह अधिक एकाग्रचित्त और संतुलित रहता है। यह सिद्धांत आत्मसंयम और आत्म-नियंत्रण की भावना को मजबूत करता है, जिससे व्यक्ति अपने जीवन में सफलता और शांति प्राप्त करता है। व्यास भाष्य- महर्षि व्यास ने लिखा है-

ब्रहमचर्य गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयम: ।

अर्थात : गुप्त इन्द्रिय (उपस्थेन्द्रिय) के संयम का नाम 'ब्रहमचर्य' है।

5. **अपरिग्रह (non-possession) -** अपरिग्रह का अर्थ है अधिक संपत्ति और भौतिक चीजों का संचय न करना। यह सिद्धांत व्यक्ति को मानसिक शांति और संतोष की ओर अग्रसर करता है, क्योंकि अधिक चीजों की प्राप्ति से चिंता और तनाव बढ़ता है। जब व्यक्ति भौतिक इच्छाओं से मुक्त रहता है, तो वह आंतरिक सुख और संतोष प्राप्त करता है। यह सिद्धांत शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए अत्यंत लाभकारी है, क्योंकि यह व्यक्ति को आत्मनिर्भर और संतुष्ट बनाता है।व्यास भाष्य में कहा गया है-

विषयानामर्जन रक्षण क्षय, संग, हिंसा दोष दर्शनादस्वीकरणम् अपरिग्रह।

अर्थात् विषयों के अर्जन में रक्षण उनका क्षय, उनके संग और उनमें हिंसादि दोष के विषयों को स्वीकार न करना ही अपरिग्रह है।

3.4.1 यम सिद्धांतों का मानसिक, शारीरिक, और सामाजिक जीवन पर प्रभाव—

यम के ये पाँच सिद्धांत मानसिक शांति और संतुलन प्रदान करने में सहायक होते हैं। मानसिक दृष्टिकोण से, यह सिद्धांत नकारात्मक विचारों, क्रोध, और तनाव को कम करते हैं, जिससे व्यक्ति की मानसिक स्थिति स्थिर रहती है। शारीरिक दृष्टिकोण से, यह सिद्धांत स्वास्थ्य को बेहतर बनाते हैं क्योंकि वे व्यक्ति को अनुशासित, संयमित और संतुलित जीवन जीने के लिए प्रेरित करते हैं। सामाजिक जीवन पर इन सिद्धांतों का प्रभाव बहुत गहरा होता है, क्योंकि यह सिद्धांत दूसरों के साथ अच्छे संबंध बनाने और सामूहिक जीवन में सामंजस्य बनाए रखने में मदद करते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह के सिद्धांत व्यक्ति को एक बेहतर इंसान और समाज का जिम्मेदार सदस्य बनाते हैं।

2. नियम (आत्म-अनुशासन): नियम का अर्थ है 'सकारात्मक आचार' या 'नियमितता'. इसमें ऐसे कार्यों और आदतों की स्थापना की जाती है, जो मानसिक, शारीरिक और आत्मिक शुद्धता को बढ़ावा देती हैं।

शौचसन्तोषतप: स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानिणि नियमा:। (योगसूत्र 2/32)

अर्थात् : शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय व ईश्वरप्रणिधान ये 5 नियम है।

• **शौच (Purity) -**शौच का अर्थ है शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शुद्धता का पालन करना। यह सिद्धांत व्यक्ति को अपने शरीर को स्वच्छ और स्वस्थ रखने के लिए प्रेरित करता है। मानसिक शुद्धता से विचारों की स्वच्छता और नकारात्मक भावनाओं का त्याग होता है। शारीरिक दृष्टि से शौच शरीर की सेहत और ताजगी बनाए रखने में मदद करता है। शारीरिक और मानसिक शुद्धता जीवन में संतुलन और सकारात्मक ऊर्जा का संचार करती है, जो आत्मिक विकास के लिए आवश्यक है।शौच मुख्यत: दो है 1. बाह्य शौच और 2. आभ्यान्तर शौच।

1. **बाह्य शौच-** जल व मिट्टी आदि से शरीर की शुद्धि, स्वार्थ त्याग, सत्याचरण से मानव व्यवहार की शुद्धि, तप से पंचभूतों की शुद्धि, ज्ञान से बुद्धि की शुद्धि ये सब बाह्य शुद्धि कहलाती है। (बाह्य शौच)
2. **आभ्यान्तर -शौच (आन्तरिक)** अंहकार, राग, द्वेष, ईर्ष्या, काम, क्रोध आदि मलो को दूर करना आन्तरिक पवित्रता कहलाती है।

योगसूत्र में शौच के फल के विषय में कहा है कि-

शौचात्स्वाडग्जुगुप्सा परैरसंसर्ग:। (योगसूत्र 2/ 40)

अर्थात शौच की स्थिरता होने पर निजी अंग समूह के प्रति घृणा और परदेह संसर्ग की अनिच्छा होती है।

• **संतोष (Contentment) -** संतोष का अर्थ है जो कुछ भी आपके पास है, उसमें संतुष्ट रहना। यह सिद्धांत व्यक्ति को अपनी स्थिति और परिस्थितियों से प्रसन्न रहने की प्रेरणा देता है। संतोष से मानसिक शांति मिलती है, क्योंकि व्यक्ति किसी भी स्थिति में असंतोष या तनाव से बचता है। यह सिद्धांत आंतरिक सुख और संतुलन को बढ़ावा देता है और बाहरी परिस्थितियों से अप्रभावित रहने की क्षमता विकसित करता है। शारीरिक दृष्टि से संतोष व्यक्ति को आत्मनिर्भर और तनावमुक्त बनाता है।मनुस्मृति कहती हैं सन्तोष ही सुख का मूल है। इसके विपरित असंतोष या तृष्णा ही दु:ख का मूल है।योगसूत्र में संतोष का फल बताते हुए कहा गया हैं

संतोषादनुत्तमसुखलाभ:॥ (योगसूत्र 2/42)

अर्थात :चित्त में संतोष भाव दृढ़ प्रतिष्ठित हो जाने पर योगी को निश्चय सुख यानी आनन्द प्राप्त होता है।

• **तप (Austerity) -** तप का अर्थ है आत्म-नियंत्रण और कठोर अनुशासन का पालन करना। यह सिद्धांत व्यक्ति को बाहरी भोग विलास से बचाकर आत्म-निर्माण की दिशा में मार्गदर्शन करता है। तप से मानसिक बल और शारीरिक सहनशीलता में वृद्धि होती है। यह सिद्धांत व्यक्ति को अपने लक्ष्यों के प्रति प्रतिबद्धता और संघर्षशीलता की भावना प्रदान करता है। तप से मानसिक शांति और आत्म-विश्वास बढ़ता है, क्योंकि यह व्यक्ति को कठिनाइयों का सामना करने के लिए तैयार करता है।योगसूत्र में तप का फल बताते हुए कहा है-

कार्येन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयान्तपस:। 2/43

अर्थात् तप के प्रभाव से जब अशुद्धि का नाश हो जाता है तब शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि हो जाती है। तप के द्वारा क्लेशों तथा पापों का क्षय नाश हो जाने पर शरीर में तो अणिमा महिमादि सिद्धि आ जाती है, और इन्द्रियों में सूक्ष्म व्यवहित अर्थात दूर दर्शन, दूर श्रवण, दिव्य गंध, दिव्य रसादि सूक्ष्म विषयों को ग्रहण करने की शक्ति भी आ जाती है। अत: योगी के लिए तप साधना नितांत आवश्यक है।

• **स्वाध्याय (Self-study) -** स्वाध्याय का अर्थ है आत्म-ज्ञान प्राप्त करना और अपने विचारों, कार्यों और भावनाओं का गहन आत्ममूल्यांकन करना। यह सिद्धांत व्यक्ति को अपने आंतरिक सत्य को जानने और समझने के लिए प्रेरित करता है। स्वाध्याय से आत्म-निर्माण और आत्म-समझ में वृद्धि होती है। यह व्यक्ति को मानसिक शांति और संतुलन की ओर अग्रसर करता है, क्योंकि आत्म-मूल्यांकन से व्यक्ति अपनी कमजोरियों को पहचानकर उन्हें सुधारने का प्रयासकरता है।योग भाष्य में महर्षि व्यास जी ने लिखा है-

'स्वाध्याय: प्रणव श्रीरुद्रपुरूषसूक्तादि: मन्त्राणां जप: मोक्ष्य शास्त्राध्ययभ्च'।। 2 /1

अर्थात :प्रणव अर्थात ओंकार मन्त्र का विधि पूर्वक जप करना रुद्र सूक्त और पुरुषसूक्त आदि वैदिक मन्त्रों का अनुष्ठान पूर्व जप करना तथा दर्शनोपनिषद एवं पुराण आदि आध्यात्मिक मोक्ष शास्त्रों का गुरूमुख से श्रवण करना अर्थात अध्ययन करना स्वाध्याय है।

• **ईश्वर प्राणिधान (Surrender to God) -** ईश्वर प्रणिधान का अर्थ है ईश्वर के प्रति समर्पण और विश्वास रखना। यह सिद्धांत व्यक्ति को अपने जीवन में पूर्ण विश्वास और भक्ति के साथ भगवान के मार्गदर्शन को स्वीकारने की प्रेरणा देता है। ईश्वर प्रणिधान से व्यक्ति को मानसिक

शांति, धैर्य और संतोष मिलता है, क्योंकि यह विश्वास और समर्पण के साथ जीवन की चुनौतियों का सामना करने की क्षमता बढ़ाता है। यह सिद्धांत व्यक्ति के आत्मिक विकास में मदद करता है और उसे सच्चे उद्देश्य की ओर मार्गदर्शन करता है।योग सूत्र में ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धि, शीघ्र होने की बात कही है।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।। (योगसूत्र 2 /45)

अर्थात ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धि हो जाती है। ईश्वर प्रणिधान से ईश्वर की अनुकम्पा होती है। उसके अनुभव से योग के समस्त अनिष्ट दूर हो जाते है तथा योगी शीघ्र ही योगसिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

3.4.2 नियमों का मानसिक शांति, शारीरिक स्वास्थ्य और आत्म-निर्माण पर प्रभाव—

इन पाँच सिद्धांतों का पालन करने से व्यक्ति के मानसिक, शारीरिक और आत्मिक जीवन में गहरा प्रभाव पड़ता है। मानसिक शांति प्राप्त होती है क्योंकि व्यक्ति अपने विचारों, भावनाओं और कार्यों में संतुलन बनाए रखता है। शारीरिक स्वास्थ्य बेहतर होता है क्योंकि ये सिद्धांत व्यक्ति को स्वच्छता, संयम, ओर आत्म-नियंत्रण की ओर प्रेरित करते हैं। आत्म-निर्माण की प्रक्रिया में इन सिद्धांतों का पालन व्यक्ति को आत्मज्ञान, आत्मविश्वास और आध्यात्मिक उन्नति की ओर अग्रसर करता है। इस प्रकार, नियमों के पालन से जीवन में संतुलन, शांति, और संतोष की प्राप्ति होती है।

3. **आसन (शारीरिक स्थिरता):** आसन शब्द संस्कृत भाषा के 'अस' धातु से बना है जिसके दो अर्थ है। पहला है बैठने का स्थान, दूसरा अर्थ शारीरिक अवस्था ।

शरीर मन और आत्मा जब एक संग और स्थिर हो जाता है, उससे जो सुख की अनुभूति होती है वह स्थिति आसन कहलाती है। तेजबिन्दुपनिषद में आसन के विषय में कहा है। **सुखेनैव भवेत् यस्मिन्नजस्रं ब्रहमचिन्तनम्।** अर्थात् जिस स्थिति में बैठकर सुखपूर्वक निरन्तर परमब्रहम का चिन्तन किया जा सके उसे ही आसन समझना चाहिए।

4. प्राणायाम प्राणायाम दो शब्दो :(श्वास नियंत्रण)ः से मिलकर बना है। प्राण आयाम । + प्राण का अर्थ होता है, जीवनी शक्ति आयाम के दो अर्थ है। पहला नियन्त्रण करना या रोकना तथा दूसरा लम्बा या विस्तार करना। प्राणवायु का निरोध करना 'प्राणायाम' कहलाता है। योग सूत्र में प्राणायाम को इस प्रकार प्रतिपादित किया है'तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेद।।:प्राणायाम :2/49

अर्थात् : उसकी (आसनों की) स्थिरता होने पर श्वास और प्रश्वास की स्वाभाविक गति का रूक जाना प्राणायाम है।

5. **प्रत्याहार (इंद्रियों का नियंत्रण):**अष्टांग योग में प्राणायाम के पश्चात् प्रत्याहार आता है। प्रत्याहार का सामान्य अर्थ होता है, पीछे हटना, उल्टा होना, विषयों से विमुख होना। इसमें इन्द्रिया अपने बहिर्मुख विषयों से अलग होकर अन्तर्मुखी हो जाती है, इसलिए इसे प्रत्याहार कहा गया है। इन्द्रियों के संयम को भी प्रत्याहार कहते है।

त्रिशिखिब्राहनणोपनिषद के अनुसार—

चित्तस्थ्यान्तर्मुखी भाव: प्रत्याहारस्तु सत्तम्।

अर्थात् : चित्त का अन्तर्मुखी भाव होना ही प्रत्याहार है।

6. **धारणा (एकाग्रता):** धारणा महर्षि पतंजलि द्वारा प्रतिपादित अष्टांग योग के अन्तरंग साधन में प्रथम है तथा यह अष्टांग योग का छठा अंग है। मन को एक विशेष (चित्त)

स्थान पर स्थिर करने का नाम'धारणा' है। यह वस्तुत मन की स्थिरता का घोतक है। हमारे सामान्य दैनिक जीवन में विभन्न प्रकार के विचार आते जाते रहते है। दीर्घकाल तक स्थिर रूप से वे नहीं टिक पाते और मन की सामान्य एकाग्रता केवल अल्प समय के लिए ही अपनी पूर्णता में रहती है। इसके विपरीत धारणा में सम्पूर्णतः चित्त की एकाग्रता की पूर्णता रहती है। महर्षि पतंजलि द्वारा धारणा को निम्न प्रकार बताया गया है -

"देशबन्धश्चितस्य धारणा'"।3/1 यो० सू0

अर्थात् : (बाहर या शरीर के भीतर कही भी) किसी एक स्थान विशेष (देश) में चित्त को बांधाना धारणा कहलाता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जब किसी देश विशेष में चित्त की वृत्ति स्थिर हो जाती है और तदाकार रूप होकर उसका अनुष्ठान होने लगता है तो यह 'धारणा' कहलाता है।

7. **ध्यान मे)डिटेशन(:**अष्टांग योग का सातवां अंग ध्यान है। धारणा की उच्च अवस्था ही ध्यान है ध्यान शब्द की उत्पत्ति ध्येचित्तायाम् धातु से होती है जिसका अर्थ है, चिन्तन करना। किन्तु यहाँ पर ध्यान का अर्थ चिन्तन करना नहीं अपितु चिन्तन का एकाग्रीकरण अर्थात चित्त को एक ही लक्ष्य पर स्थिर करना है।

ईश्वर या परमात्मा में अपना मनोनियोग इस प्रकार करना कि केवल उसमें ही साधक निगमन हो और किसी अन्य विषय की ओर उसकी वृत्ति आकर्षित न हो 'ध्यान' कहलाता है। योग शास्त्र के अनुसार जिस ध्येय वस्तु में चित्त को लगाया जाये उसी में चित्त का एकाग्र हो जाना अर्थात् केवल ध्येय मात्र में एक ही तरह की वृत्ति का प्रवाह चलना, उसके बीच में किसी दूसरी वृति का न आना "ध्यान" कहलाता है।

महर्षि पतंजलि ने योग सूत्र में ध्यान को इस प्रकार प्रतिपादित किया है-

"तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।" । ३/2 यो0 सू०

अर्थात् किसी देश विशेष में ध्येय विषयक ज्ञान या वृत्ति का लगातार एक जैसा बना रहना ध्यान है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिसमें धारणा की गई उसमें चित्त जिस वृत्ति मात्र से ध्येय में लगता है, यह वृत्ति जब इस प्रकार समान प्रवाह से लगातार उदित होता रहे कि कोई दूसरी वृत्ति बीच में न आये उसे "ध्यान" कहते है।

8. **समाधि (पूर्ण चेतना):**अष्टांग योग में समाधि का विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण स्थान है। साधना की यह चरम अवस्था है, जिसमें स्वयं योगी का बाह्य जगत् के साथ संबंध टूट जाता है। यह योग की एक ऐसी दशा है, जिसमें योगी चरमोत्कर्ष की प्राप्ति कर मोक्ष प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है। और यही योग साधना का लक्ष्य है। अतः मोक्ष प्राप्ति से पूर्व योगी को समाधि की अवस्था से गुजरना पड़ता है। योग शास्त्र में समाधि को मोक्ष प्राप्ति का मुख्य साधन बताया गया है, योग भाष्य में सम्भवत इसलिए योग :को समाधि कहा गया है। ":समाधि :योग"

पातंजल योगसूत्र में चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहा गया है। योगश्चित वृत्ति निरोध:। समाधि अवस्था में भी योगी की समस्त प्रकार की चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है।

महर्षि पतंजलि ने समाधि का स्वरूप निम्न प्रकार से बताया है-

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि:। 3 / 3 यो0सू0

अर्थात् जब (ध्यान में) केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीती होती है और चित्त का निज स्वरूप शून्य सा हो जाता है, तब वह (ध्यान ही) समाधि हो जाती है।

पतंजलि योगसूत्र द्वारा मानसिक विकारों का समाधान

मानसिक समस्या	योगसूत्र से समाधान
तनाव और चिंता	प्राणायाम और ध्यान से मानसिक शांति प्राप्त होती है।
अवसाद (डिप्रेशन)	स्वाध्याय, ध्यान और संतोष से आत्मबल बढ़ता है।
क्रोध और आक्रोश	अहिंसा और प्रत्याहार से आत्मनियंत्रण आता-है।
नकारात्मक विचार	योग और ध्यान से विचारों की शुद्धता आती है।
भावनात्मक असंतुलन	अष्टांग योग के अभ्यास से मानसिक स्थिरता मिलती है।

3.5 चित्त की वृत्तियाँ और उनका नियंत्रण

महर्षि पातंजली द्वारा पतंजली योग दर्शन के दुसरे अध्याय के तीसरे सूत्र में योग की परिभाषा को एक सूत्र में समझाने का बहुत ही सरल प्रयास किया गया है । योगस्य योग्श्च चित्तंवृत्ति निरोध: अर्थात चित्त की वृतियो का निरोध ही योग है । अर्थात योग साधना के द्वारा मन की बहिर्मुखी वृत्तियों को अन्तर्मुखी वृत्तियों में परिवर्तित करना ही चित्त है चित्त मन का बहुत ही महत्वपूर्ण भाग होता है । यही चित्त की परिभाषा बताई गयी है । मन, किसी वस्तु या संज्ञा का वह व्यक्तिगत, आत्मपरक अनुभव है जो हर पल बदलता रहता है। मन की संकल्पना करना बहुत ही कठिन काम है और इसका अलग-अलग भाषाओँ में अलग-अलग विवेचन मिलता है। बौद्ध धर्म ग्रंथो में मन के लिए संस्कृत के चित्त शब्द का प्रयोग किया गया है और इसका भावार्थ अत्यंत व्यापक है । इसमें संज्ञान, धारणा, अनुभव, मूर्त-अमूर्त विचार, मन की भावनाएं, सुख-दुःख का अनुभव, ध्यान में चित्त की भूमिका, एकाग्रता और बुद्धि इत्यादि अर्थ समाविष्ट है। बौद्ध धर्म ग्रंथो में मन का उल्लेख किया गया है उनमे चित्त की सभी प्रकार की मानसिक गतिविधियों के बारे में वर्णन किया गया हैं।

चित्त त्रिगुणात्मक स्वरूप वाला होता है । चित्त तीन स्वरूपों से मिलकर बनने वाला एक स्वरूप है – मन, बुद्धि और अहंकार

- **मन** – किसी कार्य के बारे में विचार करना की उस कार्य को करे या नही
- **बुद्धि** – कार्य के लिए निश्चय करना हा या नही !
- **अहंकार** –जहाँ ही दिखाई देता है :आ जाता है वहा अहंकार का स्वरूप स्वत "मै" ।

महर्षि पतंजली ने चित्त के पांच स्वरूपों को दुनिया के सामने रखा **क्षिप्त, विक्षिप्त, गूढ़, एकाग्र और निरुद्ध**। जबकि आधुनिक मनोवैज्ञानिको ने आधुनिक समय में मन या चित्त के केवल तीन स्वरूपो को ही माना है–

- **चेतन मन**
- **अचेतन मन**
- **अवचेतन मन**

जब तक एक साधक को चित्त की समझ नही होगी वो चेतना को समझ ही नही सकता। चित्त की पांच वृतियां होती है। महर्षि पतंजली ने मन की पांच वृतियो का वर्णन किया है – **प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, और स्मृति**। मनुष्य का मन हर पल इनमे से किसी ना किसी वृतियो में ही उलझा हुआ रहता है।

1. **प्रमाण** —मनुष्य मात्र का मन सदैव हर किसी विषय का प्रमाण खोजने के प्रयास में लगा रहता है। और प्रमाण भी ऐसा जिसका साक्ष्य सहित प्रमाण प्राप्त हो सके। प्रमाण को तीन भागो में विभाजित करके समझाया गया है यथा –**प्रत्यक्षनुमानागमा : प्रमाणानि।**

- प्रत्यक्ष आधारित
- अनुमान आधारित
- आगम आधारित

प्रत्यक्ष आधारित प्रमाण– वर्तमान स्थिती का वास्तविक अनुभव अर्थात वर्तमान में आप जहाँ हो वहां की वास्तविक स्थिति के बारे में आपसे कोई सवाल पूछे तो आप प्रत्यक्ष रूप से आपके सामने जो है उसको वास्तविक स्वरूप को देखते हुए जो जवाब दोगे यदि प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रत्यक्ष का सीधा मतलब है जो वास्तविक है आपके अनुभव में है वही प्रत्यक्ष प्रमाण है।

अनुमानआधारित प्रमाण– यह स्पष्ट नही होता केवल उसके स्वरूप व् आकर के बारे में आप अनुमान लगा सकते हो। किसी नाटक में आपको प्रेम प्रसंग के बारे में दिखाया जाता है जिसमे महिला पुरुष के बीच प्रेम संबंधो को प्रदर्शित किया जाता है। उस समय आपका चित या मन उसे ही वास्तविक स्वरूप में मान लेता है जबकि उस महिला कलाकार और पुरुष कलाकार के बीच वास्तविक स्वरूप में कुछ होता ही नही है। और आप उसे वास्तविकता से जोड़ कर देख लेते हो यही अनुमान प्रमाण है।

आगमआधारित प्रमाण– देखकर, पढ़कर या सुनकर किसी विषय पर विस्वास कर लेना और उसका अनुसरण करना आगम प्रमाण माना गया है।

2. **विपर्यय** —विपर्यय प्रमाण में मन इधर उधर की बातो बेवजह की तर्ककुतर्को व्- में उलझकर प्रमाण खीजने का निष्फल प्रयास में लगा रहता है। मिथ्या जानकारियों ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति अपने विचार, अपनी भावनाये, अपनी इच्छाए , या राय दुसरो पर थोपते है। मन की इसी स्थिति को भी विपर्यय कहा जाता है। **विपर्यायों मिथ्याज्ञानम् अतद्रुपप्रतिष्ठम** यह विपर्यय की स्थिति भी मन में हीन भावनाओ के चलते उत्पन होती है। जिससे सामने वाले व्यक्ति का अचानक अभिमानी होना नजर आने लगता है। जबकि वो अभिमानी होता नही है आपको अपने अन्दर विपर्यय प्रमाण की उत्पत्ति के कारण आपको ऐसा लगता है। तुम्हे लगता है की सामने वाले इन्सान ने आपका अनादर किया है, सम्मान नही किया है जबकि वास्तिकता में आप इतने विपर्यय में जा चुके होते हो की आप अपना खुद का आदर सम्मान करना ही भूल जाते हो। और उन्हें तुम्हारा व्यवहार देख कर थोडा आश्चर्य होगा। उन्हें लगता है की इसमे अचानक इतने बदलाव कैसे हो गये। अनेको बार आपका बहुत अच्छा दोस्त आपसे अचानक एक दम से बहुत रुखा रुखा व्यवहार करने लगता है आपको खुद ही

ऐसा लगने लगता है कि मैंने तो कुछ किया ही नही फिर ये अचानक ऐसा क्यों कर रहे है यही विपर्यय होता है।

3. **विकल्प ":शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्प"** —विकल्प को मन की तीसरी वृत्ति माना गया है। मन के अन्दर भय, भ्रमित कल्पना व् ऋणात्मक विचारो का चलते रहना जिनका वास्तविकता से कोई मतलब ही नही होता है। ऐसे विचार और वृत्ति ही विकल्प कहलाती है। ऐसी अवस्था में मन या तो मिथ्या ज्ञान में उलझा रहता है या प्रमाण ढूंढता है।

इसमे विकल्प भी दो प्रकार के होते है – किसी सुहाने सपने के बाद बेवजह डर पैदा हो जाना। ऋणात्मक विचारो की अधिकता यदि में ये काम करूंगा तो मुझे कुछ हो जायेगा या मेरी मृत्यु हो जाएगी। ये निराधार कल्पनाये ही विकल्प है।

4. **निद्रा "वृत्तिनिंद्रा आभावप्रत्ययालम्बना"**—मन जब किसी भी वृत्ति में उलझा हुआ नही होता है ऐसी स्थिति में वो मन की चौथी वृत्ति निंद्रा अर्थात नींद में चला जाता है। यह एक साधक के लिए अत्यंत आवश्यक अवस्था होती है।
5. **स्मृति "स्मृति :अनुभूतविषयासम्प्रमोष"** —मन की पांचवी और अंतिम वृत्ति है स्मृति। गुरजे हुए पुराने समय की यादे जो भूतकाल में घटित हो चुकी उन्हें याद करना। जागृत अवस्था में किया गया ध्यान का प्रयास ना तो योग है और ना ही ध्यान है।

चित्त के गुणों का विवेचन—

बुद्धि: बुद्धि के अन्दर सात्विक गुण विधमान होता है। इसका अनुसरण करने वाला व्यक्ति ख़ुशी प्राप्त करने वाला और संतोषी प्रवृति का होता है।

मन: मन के अन्दर तामसिक गुण की प्रधानता होती है। मन के साधक कभी संतोषी नही होते है उन्हें एक ख़ुशी मिलने का बाद वो अधिक ख़ुशी की चाह में प्राप्त की हुई ख़ुशी का लाभ भी भलीभांति नही ले पता है।

अहंकार: अहंकार में राजसिक गुण विधमान होता है। यह आपको कभी ख़ुशी हासिल ही नही होने देता है। इन चित्त का त्रिगुणावस्था अर्थात चित्त की तीनो अवस्थाओ के एक हो जाने की अवस्था को प्रधान अवस्था या सबसे अच्छी अवस्था माना जाता है। जिसे एकाग्र अवस्था या निरुद्र अवस्था कहा जाता है। लेकिन ये अवस्था तब तक नही हो सकती है जब तक की आप चित्त के महत्व को अच्छे से नही समझ लेते हो। चित्त को भलीभांति समझने के लिए मन के स्वरूप को, बुद्धि के स्वरूप को, अहंकार के स्वरूप को समझना बहुत ही जरूरी होता है यदि आप इन तीनो के स्वरूप को समझे बिना ही चित्त के स्वरूप को समझने का प्रयास करोगे तो समझना बहुत मुश्किल होगा। ओर चित्त को समझने के लिए चित्त के सभी विषयों को समझना अति आवश्यक है। चित्त की उत्पत्ति, चित्त का स्वरूप, चित्त की कार्य प्रणाली आदि को समझना जरूरी है।

3.6 गीता में मानसिक स्वास्थ्य के सिद्धांत

भगवद्गीता न केवल आध्यात्मिक ज्ञान का स्रोत है, बल्कि यह मानसिक स्वास्थ्य और आंतरिक शांति को प्राप्त करने के लिए भी गहन अंतर्दृष्टि प्रदान करती है। गीता के उपदेश आधुनिक मनोविज्ञान से मेल खाते हैं और व्यक्ति को चिंता, तनाव और अवसाद से मुक्त करने

में सहायक हो सकते हैं। यहाँ गीता में दिए गए कुछ प्रमुख मानसिक स्वास्थ्य के सिद्धांतों की चर्चा की गई है:

1. स्थितप्रज्ञता)Emotional Stability):

भगवद्गीता में श्रीकृष्ण "स्थितप्रज्ञ" व्यक्ति की विशेषताओं का वर्णन करते हैं, जो सुख-दुख, लाभ-हानि और सफलता-असफलता में समान भाव रखता है। स्थितप्रज्ञता का अर्थ है—"मानसिक स्थिरता और समता"। यह वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति सुख-दुख, लाभ-हानि, सफलता-असफलता और प्रशंसा-निंदा जैसी परिस्थितियों में मानसिक रूप से स्थिर बना रहता है। भगवद गीता के अनुसार, स्थितप्रज्ञ व्यक्ति को मोह, भय और क्रोध से मुक्ति मिल जाती है। भगवद गीता के द्वितीय अध्याय (सांख्य योग) में स्थितप्रज्ञ व्यक्ति की विशेषताओं का विस्तार से वर्णन किया गया है।

1. स्थितप्रज्ञ व्यक्ति सुख-दुख से अडिग रहता है

"मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥" श्लोक 2.14

अर्थात् :हे अर्जुन! सुख-दुख, सर्दी-गर्मी और मान-अपमान जैसी अनुभूतियाँ क्षणिक हैं। वे आती-जाती रहती हैं, इसलिए उन्हें सहन करना सीखो।स्थितप्रज्ञ व्यक्ति जीवन की अनिश्चितताओं से विचलित नहीं होता और मानसिक संतुलन बनाए रखता है।

स्थितप्रज्ञ व्यक्ति राग और भय से मुक्त होता है

"दुःखेष्वनुद्विग्नमना: सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोध: स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥" श्लोक 2.56

अर्थात् : जो व्यक्ति दुःख में व्याकुल नहीं होता, सुख में जिसकी लालसा नहीं होती, जो राग, भय और क्रोध से मुक्त है, वही स्थितप्रज्ञ कहलाता है।यह मानसिक स्वास्थ्य के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि चिंता और भय से मुक्त व्यक्ति ही सच्ची शांति का अनुभव कर सकता है।

स्थितप्रज्ञ व्यक्ति अपनी इंद्रियों को नियंत्रित करता है

"यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥" श्लोक 2.58

अर्थात् :जैसे कछुआ अपने अंगों को भीतर समेट लेता है, वैसे ही जो व्यक्ति अपनी इंद्रियों को नियंत्रित कर लेता है, उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है। इंद्रियों का संयम मानसिक स्थिरता के लिए आवश्यक है।

स्थितप्रज्ञ व्यक्ति इच्छाओं से मुक्त होता है

"विहाय कामान्य: सर्वान्पुमांश्चरति नि:स्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कार: स शान्तिमधिगच्छति॥" श्लोक 2.71

अर्थात् : जो व्यक्ति सभी इच्छाओं का त्याग कर देता है, जो "मेरा" और "अहंकार" की भावना से मुक्त हो जाता है, वही सच्ची शांति प्राप्त करता है। अत्यधिक इच्छाएँ और अहंकार व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं। स्थितप्रज्ञ व्यक्ति इनसे मुक्त रहता है।

2. कर्मयोग)Detached Action & Mindfulness)

श्रीकृष्ण अर्जुन को निष्काम कर्म करने की सलाह देते हैं – यानी बिना किसी फल की इच्छा के अपने कर्तव्यों का पालन करना। कर्मयोग का अर्थ है – "निष्काम भाव से कर्म करना।" भगवद

गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कर्मयोग का उपदेश दिया, जिसमें बताया कि बिना किसी स्वार्थ और फल की इच्छा के अपने कर्तव्य का पालन करना ही श्रेष्ठ मार्ग है।

"योगः कर्मसु कौशलम्" (गीता 2.50) (अर्थ: कर्म में कुशलता ही योग है।)

कर्मयोग हमें यह सिखाता है कि हम अपना कार्य पूरी निष्ठा और समर्पण के साथ करें, लेकिन उसके फल की आसक्ति न रखें। यह मानसिक शांति, संतोष और जीवन में संतुलन बनाए रखने का एक प्रभावी तरीका है।

निष्काम कर्म – फल की चिंता किए बिना कर्म करना

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥" श्लोक 2.47

अर्थात् : तुम्हारा अधिकार केवल कर्म करने में है, लेकिन उसके फल पर नहीं। इसलिए, कर्म को केवल फल की प्राप्ति के उद्देश्य से मत करो और न ही कर्म न करने में आसक्त हो। यह सिद्धांत सिखाता है कि हमें परिणाम की चिंता किए बिना अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए, जिससे चिंता और तनाव कम होता है।

कर्मयोगी आत्मसंयमी होता है

"यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥" श्लोक 3.7

अर्थात् : जो व्यक्ति अपनी इंद्रियों को मन से नियंत्रित कर निष्काम कर्म करता है, वही श्रेष्ठ योगी है। इसका अर्थ है कि हमें इंद्रियों पर नियंत्रण रखते हुए अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिए।

समत्व भाव – कर्मयोगी सुख-दुख में समान रहता है—

"योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥" श्लोक 2.48

अर्थात् : हे अर्जुन! योग में स्थित होकर, आसक्ति को त्यागकर, सफलता और असफलता में समान भाव रखते हुए कर्म करो। यही समत्व भाव ही योग कहलाता है। इसका तात्पर्य है कि हमें कर्म में पूरी तल्लीनता से लगे रहना चाहिए, लेकिन उसके परिणाम को लेकर चिंतित नहीं होना चाहिए। कर्मयोगी सच्ची शांति प्राप्त करता है।

"युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥" श्लोक 5.12

अर्थात् : जो कर्मयोगी फल की आसक्ति को त्यागकर कार्य करता है, वह परम शांति को प्राप्त करता है, जबकि जो फल की इच्छा से कार्य करता है, वह बंधनों में फँस जाता है। यह सिद्धांत सिखाता है कि त्याग और निःस्वार्थ सेवा से ही सच्ची शांति संभव है।

3. **आत्मसंयम और इंद्रिय) निग्रह-Self-Control & Discipline):**

भगवद्गीता में आत्मसंयम (Self-control) और इन्द्रिय-निग्रह (Control of Senses) को जीवन की सफलता और मानसिक शांति के लिए अत्यन्त आवश्यक बताया गया है। ये दोनों सिद्धांत मनुष्य के व्यक्तित्व निर्माण, चरित्र शुद्धि और आध्यात्मिक उन्नति के आधार स्तम्भ माने गए हैं। गीता में आत्मसंयम और इच्छाओं पर नियंत्रण की महत्ता बताई गई है। जो व्यक्ति अपनी इंद्रियों को नियंत्रित कर लेता है, वह मानसिक रूप से शांत रहता है। आत्मसंयम का अर्थ है — अपने मन, वाणी, इन्द्रियों और कर्मों पर नियंत्रण रखना। यह मन की चंचलता, वासनाओं, लोभ,

क्रोध, मोह, और अहंकार पर विजय प्राप्त करने की क्षमता है। व्यावहारिक रूप से: आत्मसंयम से मनोवैज्ञानिक विकारों, जैसे – अधिक चिंता, उत्तेजना, और अधीरता को नियंत्रित किया जा सकता है।

इन्द्रिय-निग्रह का अर्थ है — इन्द्रियों को विषयों की ओर भटकने से रोकना और उचित दिशा में नियंत्रित करना। मनुष्य की पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ — आँख (दृष्टि), कान (श्रवण), नाक (गंध), जिव्हा (स्वाद), त्वचा (स्पर्श)। इन्हें संयमित करके ही मनुष्य मानसिक शांति प्राप्त कर सकता है।

गीता में आत्मसंयम की विशेषता: **भगवान कृष्ण ने कहा —**

"इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥" (गीता 3.42)

अर्थ — इन्द्रियाँ विषयों से श्रेष्ठ हैं, मन इन्द्रियों से श्रेष्ठ है, बुद्धि मन से श्रेष्ठ है और आत्मा (परम तत्व) बुद्धि से भी श्रेष्ठ है। अतः जो आत्मा को जानकर मन और इन्द्रियों को वश में कर लेता है, वही सच्चा आत्मसंयमी है।

गीता में इन्द्रिय-निग्रह का उल्लेख:

1. इन्द्रिय-निग्रह आत्मा की ओर जाने का मार्ग है

"यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥" (गीता 2.58)

अर्थ — जैसे कछुआ अपने अंगों को भीतर समेट लेता है, वैसे ही जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को विषयों से रोक लेता है, उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है।

इन्द्रिय-संयम योग का आधार है

"तस्मादस्य महाबाहो निगृह्येन्द्रियाणि सर्वशः।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥" (गीता 3.41)

अर्थ — हे महाबाहो अर्जुन! तू इन्द्रियों को हर प्रकार से वश में कर इस कामरूप पाप रूपी शत्रु का नाश कर, जो ज्ञान और विज्ञान को नष्ट करने वाला है।

4. ध्यान और आत्मचिंतन)Meditation & Self-Reflection)

भगवद्गीता में ध्यान (Meditation) और आत्मचिंतन (Self-reflection or Contemplation) को आध्यात्मिक साधना का महत्वपूर्ण अंग बताया गया है। गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को ध्यानयोग और आत्मचिंतन के माध्यम से आत्मा की पहचान, मन की स्थिरता, और परमात्मा से जुड़ने की विधि बताई है। गीता में ध्यान (ध्यान योग) को मन की शुद्धि और आंतरिक शांति के लिए सर्वोत्तम उपाय बताया गया है।

ध्यान (Meditation) का वर्णन — अध्याय 6 (ध्यानयोग)

1. **ध्यान का उद्देश्य**

गीता के अनुसार ध्यान का मूल उद्देश्य है — चंचल मन को वश में लाना, इन्द्रियों पर नियंत्रण रखना और अंतःकरण को शुद्ध कर आत्मा एवं परमात्मा के एकत्व का अनुभव करना।

"युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।"

अर्थ — जो व्यक्ति आहार, व्यवहार, कर्म, सोना-जागना आदि में संयमित है, उसका योग (ध्यान) दुखों का नाश कर देता है।

ध्यान की विधि— भगवद्गीता ध्यान की विधि बड़े विस्तार से बताती है:

"शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्।।"(अध्याय 6, श्लोक 11)

अर्थात् एक पवित्र स्थान पर समतल भूमि पर आसन बिछाकर बैठना चाहिए — न अधिक ऊँचा न अधिक नीचा।

"समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।"(अध्याय 6, श्लोक 13)

अर्थात् सिर, गला और शरीर को सीधा रखकर ध्यानस्थ अवस्था में दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर टिकाना चाहिए।

ध्यान का फल—

ध्यान साधना से योगी परमशांति प्राप्त करता है और भगवान के साथ एकाकार हो जाता है।

"युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी निवृत्तकल्पनः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते।।"(अध्याय 6, श्लोक 28)

अर्थात्— ध्यान में निरंतर लगे रहने वाला योगी ब्रह्म (परमात्मा) के साथ संपर्क में आकर अत्यंत सुख को प्राप्त करता है।

आत्मचिंतन (Self-reflection) — गीता का दृष्टिकोण

आत्मचिंतन का अर्थ है — अपने जीवन, कर्म, स्वभाव, और उद्देश्य का निरीक्षण करना। गीता इसे ज्ञानयोग और आत्मबोध का हिस्सा बताती है।

आत्मचिंतन के सूत्र:

1. मैं कौन हूँ? — आत्मस्वरूप का बोध

"न जायते म्रियते वा कदाचित्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।"(अध्याय 2, श्लोक 20)

अर्थात् — आत्मा न जन्म लेती है, न मरती है। आत्मा अविनाशी, शाश्वत और सनातन है।

संसार की अस्थिरता का चिंतन

"अनित्यं असुखं लोकं इमं प्राप्य भजस्व माम्।।"(अध्याय 9, श्लोक 33)

अर्थात् — यह संसार नश्वर और दुखरूप है, इसलिए परमात्मा की भक्ति और साधना करो।

कर्म और उसके फल का विचार

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।"(अध्याय 2, श्लोक 47)

अर्थात् — मनुष्य का अधिकार केवल कर्म करने में है, फल की चिंता न करे। आत्मचिंतन से कर्म की शुद्धता आती है। ध्यान और आत्मचिंतन से मनुष्य अपने अंदर के परम सत्य से जुड़ सकता है और मोक्ष (आध्यात्मिक मुक्ति) की ओर बढ़ सकता है।

5. अहंकार और मोह का त्याग)Ego & Attachment-Free Living)

भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जीवन के दो प्रमुख बंधनों — अहंकार (Ego) और मोह (Attachment/Delusion) — को त्यागने की शिक्षा दी है। यह दोनों ही तत्व आत्मा के परम शांति और मोक्ष मार्ग में सबसे बड़े अवरोधक बताए गए हैं। गीता का संदेश है कि जब तक

मनुष्य अहंकार और मोह में जकड़ा रहता है, तब तक वह न तो आत्मज्ञान प्राप्त कर सकता है, न ही भगवान की सच्ची भक्ति कर सकता है और न ही मुक्ति (मोक्श) को पा सकता है। अहंकार और मोह को मानसिक अशांति का मूल कारण बताया गया है। अहंकार का अर्थ है — "मैं" और "मेरा" की झूठी भावना। अहंकार शरीर, बुद्धि, धन, पद, विद्या, शक्ति आदि से उत्पन्न होता है। यह व्यक्ति को अपने वास्तविक स्वरूप (आत्मा) से भटका देता है।

गीता में अहंकार की निंदा:--

"अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः।।"(अध्याय 16, श्लोक 18)

अर्थात् — अहंकार,बल, घमंड, काम, क्रोध में लिप्त लोग स्वयं को और दूसरों को दुःख देते हैं और भगवान से दूर हो जाते हैं। (श्लोक 2.71, 12.13-14)

अहंकार का त्याग क्यों ज़रूरी?

"विनयम्रदुप्रशान्ताय
वितरागभयक्रोधाय
मन्मया मामुपाश्रिताः।।"(अध्याय 4, श्लोक 10)

अर्थात् — जिनका अहंकार समाप्त हो गया है, जो राग-द्वेष और भय से मुक्त हैं, वे ही भक्ति के योग्य हैं और भगवान की शरण में आ सकते हैं।

अहंकार त्याग की विधि:

"निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्याः विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैः
गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्।।"(अध्याय 15, श्लोक 5)

अर्थात् — जो अहंकार और मोह से रहित हैं, संग दोष (आसक्ति) से मुक्त हैं, वही व्यक्ति परम पद (मोक्ष) को प्राप्त करते हैं।

मोह क्या है?

मोह = अज्ञान से उत्पन्न आसक्ति और आकर्षण।

यह मनुष्य को संसार की असत्य वस्तुओं में फंसा कर वास्तविकता से दूर कर देता है।

मोह से होने वाला नुकसान:

"सङ्गात्सञ्जायते कामः
कामात्क्रोधोऽभिजायते।
क्रोधाद्भवति संमोहः
संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।।"(अध्याय 2, श्लोक 62-63)

अर्थात् — विषयों में आसक्ति (मोह) से कामना उत्पन्न होती है, कामना से क्रोध, क्रोध से मोह (भ्रम), मोह से स्मृति भ्रम और स्मृति भ्रम से बुद्धि नष्ट हो जाती है।

मोह का त्याग क्यों आवश्यक है?

"विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति।।"(अध्याय 2, श्लोक 71)

अर्थात् — जो सब कामनाओं का त्याग कर देता है, जो आसक्ति और अहंकार से मुक्त है — वही शांति प्राप्त करता है।

मोह के त्याग की विधि:

"मुक्तसङ्गोऽनहंवादी
धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः
कर्तासत्त्विक उच्यते।।"(अध्याय 18, श्लोक 26)

अर्थात् — मोह का त्याग करने वाला, अहंकार रहित, धैर्यवान, उत्साही, सफलता-असफलता में सम रहने वाला व्यक्ति ही सत्त्वगुणी (श्रेष्ठ) कर्ता कहलाता है।

6. श्रद्धा और समर्पण)Faith & Surrender to Higher Power)

भगवद्गीता में श्रद्धा (Faith) और समर्पण (Surrender) को अध्यात्मिक साधना का मूल आधार माना गया है।

यह दोनों ही तत्व मनुष्य को ईश्वर के निकट लाते हैं और मोक्ष के मार्ग को सरल बनाते हैं।

गीता का स्पष्ट संदेश है —

"श्रद्धावान लभते ज्ञानम्" — श्रद्धावान (आस्थावान) व्यक्ति ही सच्चे ज्ञान और भक्ति को प्राप्त कर सकता है।

श्रद्धा का तात्पर्य है — विश्वास, भक्ति, सच्ची निष्ठा, और ईश्वर में पूर्ण आस्था।

यह मन और बुद्धि की वह शक्ति है जिससे साधक अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है, भले ही उसे बाह्य रूप से दिखाई न दे। श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो व्यक्ति परमात्मा में श्रद्धा और समर्पण करता है, वह मानसिक रूप से शांति प्राप्त करता है।

भगवद्गीता में श्रद्धा के प्रकार (अध्याय 17)

श्रीकृष्ण ने श्रद्धा को तीन गुणों में बाँटा है:

श्रद्धा का प्रकार	गुण	फल प्रभाव /
सात्विक श्रद्धा	सत्य में, भगवान में, शुद्ध आचरण में	शुद्ध ज्ञान, मुक्ति मार्ग
राजस श्रद्धा	भौतिक लाभ, दिखावा, शक्ति प्रदर्शन	अस्थायी फल
तामस श्रद्धा	अंधविश्वास, अहंकार, हिंसा	अज्ञानता और पतन

गीता का कथन:

"श्रद्धामयोऽयं पुरुषो
यो यच्छ्रद्धः स एव सः।।"(अध्याय 17, श्लोक 3)

अर्थात् — मनुष्य जैसा श्रद्धा वाला होता है, वैसा ही वह बन जाता है।

समर्पण का अर्थ:

समर्पण = स्वयं को भगवान की इच्छा के अधीन कर देना।"मैं" और "मेरा" की भावना का त्याग करके पूर्ण रूप से भगवान के शरणागत बन जाना। भगवद्गीता में समर्पण का अंतिम उपदेश:

"सर्वधर्मान्परित्यज्य
मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो

मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।"(अध्याय 18, श्लोक 66)

अर्थात् — श्रीकृष्ण कहते हैं — "सभी धर्मों (कर्तव्यों, बंधनों) को छोड़कर मेरे ही शरण में आ जा। मैं तुझे सभी पापों से मुक्त कर दूँगा — तू शोक मत कर।"

समर्पण की शक्ति:

"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां

ये जनाः पर्युपासते।

तेषां नित्याभियुक्तानां

योगक्षेमं वहाम्यहम्।।"(अध्याय 9, श्लोक 22)

अर्थात् — जो भक्त बिना किसी दूसरी चिंता के केवल मेरा ध्यान करते हैं, उनके योग (अभाव की पूर्ति) और क्षेम (रक्षित अवस्था) की जिम्मेदारी मैं स्वयं लेता हूँ।

7. सकारात्मक दृष्टिकोण और संतोष)Positive Thinking & Contentment)

भगवद्गीता में सकारात्मक दृष्टिकोण और संतोष को आत्मिक उन्नति के दो महत्वपूर्ण आधार स्तंभों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह ग्रंथ केवल धार्मिक ग्रंथ नहीं है, बल्कि एक जीवन-प्रेरणा स्रोत है जो मानसिक शांति, संतुलन और सही दृष्टिकोण के लिए मार्गदर्शन करता है। भगवद्गीता में सकारात्मक दृष्टिकोण (Positive Attitude) और संतोष (Contentment) को अत्यंत महत्वपूर्ण माना गया है। ये दोनों जीवन को शांत, स्थिर और सुखद बनाने में सहायक होते हैं। चलिए, इन दोनों विषयों को भगवद्गीता के संदर्भ में समझते हैं:

सकारात्मक दृष्टिकोण (Positive Attitude)

भगवद्गीता अध्याय 2, श्लोक 47 में कहा गया है:

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।।"

भावार्थ: तुम्हारा अधिकार केवल कर्म करने में है, फलों में नहीं। इसलिए कर्म करते समय फल की चिंता मत करो और कर्म न करने में भी आसक्त मत बनो।

यह श्लोक हमें सिखाता है कि सकारात्मक दृष्टिकोण का मूल है "निष्काम कर्म" – यानी बिना फल की चिंता किए पूरे मन से कर्म करना। जब हम पूरी श्रद्धा, निष्ठा और समर्पण से कार्य करते हैं, तो मानसिक तनाव और नकारात्मकता दूर होती है।

"उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।" श्लोक (6.5):

भावार्थ: मनुष्य को स्वयं ही अपना उद्धार करना चाहिए, न कि आत्मा को गिराना चाहिए। क्योंकि वह स्वयं ही अपना मित्र और शत्रु है।

यदि हमारा दृष्टिकोण सकारात्मक है, तो हम अपने जीवन के मार्ग में सबसे बड़े सहायक बन सकते हैं। लेकिन यदि दृष्टिकोण नकारात्मक है, तो हम स्वयं अपने सबसे बड़े शत्रु बन जाते हैं।

संतोष (Contentment)

अध्याय 6, श्लोक 20-22 में भगवान श्रीकृष्ण ध्यान की अवस्था में संतोष और आनंद का वर्णन करते हैं:

"यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥"

भावार्थ: जिस स्थिति को प्राप्त करके मनुष्य अन्य किसी लाभ को तुच्छ समझने लगता है, और जिसमें स्थित होकर वह भारी से भारी दुःख से भी विचलित नहीं होता – वही सच्चा आत्म-संतोष है।

"यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥" श्लोक (4.22)

भावार्थ: जो व्यक्ति जो कुछ भी स्वाभाविक रूप से मिलता है उसमें संतुष्ट रहता है, जो द्वंद्व (सुख-दुख) से परे है, जिसमें ईर्ष्या नहीं है, और जो सफलता-असफलता में समभाव रखता है – वह बंधता नहीं।

संतोष का अर्थ है – जो प्राप्त है, उसमें प्रसन्न रहना, और उस पर ईश्वर का आभार मानना। संतोष एक आंतरिक स्थिरता है, जो किसी बाहरी परिस्थिति से नहीं डगमगाती। संतोष कोई निष्क्रिय अवस्था नहीं, बल्कि एक बुद्धिमत्ता है – जीवन की विविध परिस्थितियों में संतुलन बनाए रखने की।गीता हमें सिखाती है कि जीवन में जो भी परिस्थिति आए, उसे स्वीकार करते हुए सकारात्मक दृष्टिकोण बनाए रखें।कृतज्ञता और सकारात्मक सोच अवसाद को रोकने में सहायक होते हैं।

गीता के ये सिद्धांत न केवल आध्यात्मिक विकास में सहायक हैं, बल्कि मानसिक स्वास्थ्य को भी मजबूत करते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान भी ध्यान, आत्मसंयम, और सकारात्मक सोच को मानसिक शांति के लिए आवश्यक मानता है। इसलिए, गीता का अध्ययन और उसके सिद्धांतों को अपनाने से व्यक्ति मानसिक रूप से सशक्त हो सकता है। "योगस्थः कुरु कर्माणि" – योग में स्थित होकर कर्म करो। (गीता 2.48)

3.7 अर्जुन के विषाद से मुक्ति का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण

"अर्जुन के विषाद से मुक्ति" को यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखा जाए, तो भगवद्गीता एक गहन आत्म-चिंतन, भावनात्मक संतुलन, और मानसिक स्वास्थ्य का पाठ बन जाती है। अर्जुन की स्थिति एक सामान्य मनुष्य की मानसिक स्थिति का प्रतीक है, जब वह संकट, द्वंद्व और भावनात्मक अंधकार में फंस जाता है।

अर्जुन का विषाद – मानसिक तनाव की अवस्था

महाभारत के युद्धभूमि में जब अर्जुन अपने संबंधियों, गुरुओं और मित्रों को अपने समक्ष खड़ा देखता है, तो उसके भीतर भावनात्मक टकराव उत्पन्न होता है। वह शारीरिक और मानसिक रूप से अशक्त हो जाता है:

"गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक् चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः॥" श्लोक (1.28-30)

भावार्थ: अर्जुन का धनुष गिर जाता है, शरीर काँपने लगता है, मन भ्रमित हो जाता है।
मनोवैज्ञानिक विश्लेषण:यह स्थिति Acute Anxiety और Emotional Breakdown की है। अर्जुन अपने कर्तव्य और भावना के बीच उलझ गया है – यह Cognitive Dissonance का उदाहरण है।

श्रीकृष्ण की भूमिका – एक आदर्श मनोवैज्ञानिक मार्गदर्शक (Counsellor)

श्रीकृष्ण पहले अर्जुन को सुनते हैं (Empathetic Listening): वे अर्जुन को तुरंत कोई समाधान नहीं देते, बल्कि उसे खुद अपनी सोच को देखने के लिए प्रेरित करते हैं। फिर वे धीरे-धीरे ज्ञान, तर्क और दृष्टिकोण बदलने की दिशा में ले जाते हैं

"अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।" श्लोक (2.11)

भावार्थ: तुम उन चीजों के लिए शोक कर रहे हो जो शोक योग्य नहीं हैं।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण: यह Cognitive Restructuring है – श्रीकृष्ण अर्जुन के सोचने का तरीका बदल रहे हैं।

विषाद से मुक्ति की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया

क्रम संख्या	चरण	अर्जुन की स्थिति	मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण
1.	विषाद	भावनात्मक संकट, असमर्थता	Depression/ Anxiety
2.	संवाद	शरणागत होना, प्रश्न पूछना	Seekinghelp,therapy
3.	शिक्षा	आत्मा, कर्म, धर्म का ज्ञान	Cognitive Therapy, Perspective Shift
4.	आत्मस्वीकृति-	कर्तव्य की समझ, समर्पण	Acceptance & Commitment
5.	समाधान	युद्ध के लिए तत्परता	Empowerment, Mental Strength

अर्जुन का विषाद केवल एक योद्धा का युद्ध से पीछे हटना नहीं था, बल्कि हर व्यक्ति के भीतर चल रही मानसिक लड़ाई का प्रतीक है। और भगवद्गीता उस मानसिक अंधकार से उबरने का एक मनोवैज्ञानिक मार्गदर्शन भी है। यह सिखाती है कि:

- भावनाओं को दबाना नहीं चाहिए, बल्कि समझना चाहिए।
- निर्णयों में स्थिरता आत्मज्ञान से आती है।-
- एक अच्छा मार्गदर्शक हमें हमारी ही शक्ति का एहसास कराता है।

4. **तनाव, चिंता एवं अवसाद से मुक्ति में योग और गीता की भूमिका**

तनाव, चिंता एवं अवसाद से मुक्ति में योग और भगवद्गीता की भूमिका एक अत्यंत प्रभावशाली, जीवन को रूपांतरित करने वाला विषय है। भारत की प्राचीन परंपरा – योग और भगवद्गीता – दोनों ही मन की गहराइयों को छूकर उसे संतुलित, शांत और जागरूक बनाती हैं। योग केवल शारीरिक व्यायाम नहीं है, यह मन की दवा है। इसमें तनाव को दूर करने वाले: शवासन, बालासन, वज्रासन तथा शरीर में ऊर्जा संतुलन: सूर्य नमस्कार, भुजंगासन जैसे आसन (Postures) शामिल हैं। योग में प्राणायाम (Breathing) का अत्यंत महत्त्व है जैसे अनुलोम-विलोम – तंत्रिका तंत्र शांत करता है, भ्रामरी – चिंता और अवसाद में अत्यंत उपयोगी तथा कपालभाति – मस्तिष्क को ऊर्जावान करता है। ध्यान (Meditation) के द्वारा योग मन को "वर्तमान क्षण" में लाकर व्यर्थ की चिंता से रोकता है तथा "Mindfulness" के अभ्यास से आत्म-जागरूकता बढ़ती है। वैज्ञानिक रूप से प्रमाणित है कि योग Serotonin, Dopamine जैसे "हैप्पी हार्मोन्स" को सक्रिय करता है और Cortisol (तनाव हार्मोन) को घटाता है।

भगवद्गीता केवल धार्मिक ग्रंथ नहीं, बल्कि मानव मन का विज्ञान है। यह अर्जुन की चिंता और विषाद से शुरू होकर मानसिक जागृति तक की यात्रा है। भगवद्गीता में भावनात्मक संघर्ष जिसे हम अवसाद का रूप कहते है को एक श्लोक के माध्यम से बताया गया है : **"न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः..."** अर्जुन कहता है: "मैं खड़ा भी नहीं हो पा रहा हूँ, मन भ्रमित हो गया है।" यह पैनिक अटैक या Anxiety Disorder के लक्षण जैसा है।

योग और गीता का समन्वय

समस्या	योग द्वारा समाधान	गीता द्वारा समाधान
तनाव	श्वास और शरीर का संतुलन	निष्काम कर्म का अभ्यास
चिंता	ध्यान, भ्रामरी, अनुलोमविलोम-	आत्मा और आत्मज्ञान का विवेक-
अवसाद	प्राणायाम, रिलैक्सिंग आसन	समर्पण, धर्म का बोध, संपूर्ण स्वीकार

भगवद्गीता न केवल एक धार्मिक ग्रंथ है, बल्कि एक मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक मार्गदर्शक है, जो मानसिक संतुलन, आत्म-शांति, और सकारात्मक दृष्टिकोण प्रदान करता है। जब अर्जुन विषाद में डूबे होते है तब श्रीकृष्ण उन्हें केवल ज्ञान नहीं देते बल्कि वे उनके मन की गांठें खोलते हैं, और उन्हें आत्म-शांति की ओर ले जाते हैं। भगवद्गीता में बताया गया है कि जैसे नदियाँ समुद्र में समा जाती हैं, वैसे ही इच्छाएँ जिसे नहीं विचलित करतीं, वही शांत होता है। जिसने मन को जीत लिया है, वह हर परिस्थिति में शांत रहता है – चाहे सुख-दुख हो या मान-अपमान। यह भावनात्मक उतार-चढ़ाव से मुक्ति दिलाती है तथा Emotional Intelligence में वृद्धि करती है। भावनात्मक उतार-चढ़ाव को निम्न श्लोक के माध्यम से बताया गया है :

"जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥"

अर्थात् जिसने मन को जीत लिया है, वह हर परिस्थिति में शांत रहता है – चाहे सुख-दुख हो या मान-अपमान। Harvard और Stanford जैसे संस्थानों में यह सिद्ध हुआ है कि योग करने वालों में अवसाद और चिंता 60% तक कम हो सकती है।आज जब मानसिक रोगों की संख्या बढ़ रही है — जैसे तनाव, चिंता, अवसाद, आत्म-हीनता, तब योग और भगवद्गीता के सिद्धांत एक ठोस समाधान के रूप में सामने आते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान योग और भगवद्गीता के सिद्धांत किस प्रकार एक दूसरे से मेल खाते है इसका एक उदाहरण नीचे दिया गया है - Cognitive Behavioral Therapy (CBT): नकारात्मक विचारों को पहचानकर बदलना — यह गीता के "संकल्प-विकल्प" के विचार से मेल खाता है। Mindfulness Therapy: यह योग के ध्यान से प्रेरित है। Positive Psychology: गीता का सकारात्मक दृष्टिकोण और धर्म के प्रति आस्था मानसिक शक्ति को बढ़ाते हैं।

3.8 सारांश

मानसिक स्वास्थ्य एक व्यक्ति के संपूर्ण विकास और सुखद जीवन के लिए आवश्यक है। योग दर्शन और भगवद्गीता जैसे प्राचीन भारतीय ग्रंथ मानसिक स्वास्थ्य को सुधारने और बनाए रखने के लिए महत्वपूर्ण सिद्धांत प्रदान करते हैं। नियमित योगाभ्यास, ध्यान, सकारात्मक सोच और आत्म-ज्ञान से मानसिक संतुलन प्राप्त किया जा सकता है।

पतंजलि योगसूत्र मानसिक स्वास्थ्य को सुधारने और बनाए रखने के लिए एक सम्पूर्ण और प्रभावी मार्गदर्शन प्रदान करता है। अष्टांग योग के माध्यम से व्यक्ति मानसिक विकारों से मुक्त होकर आंतरिक शांति, आत्म-नियंत्रण और संतुलित जीवन जी सकता है। आधुनिक विज्ञान भी इस बात की पुष्टि करता है कि योगाभ्यास तनाव, अवसाद और चिंता को दूर करने में सहायक है। इसलिए, योग को दैनिक जीवन का हिस्सा बनाकर मानसिक स्वास्थ्य को बेहतर बनाया जा सकता है। चित्त की वृत्तियाँ हमें संसार से जोड़ती हैं, लेकिन जब इनका नियंत्रण कर लिया जाता है, तो व्यक्ति आत्मज्ञान की दिशा में बढ़ सकता है। योग और ध्यान के अभ्यास से इन वृत्तियों को नियंत्रित कर सच्चे आनंद और शांति की प्राप्ति की जा सकती है।"योग शरीर को स्थिर करता है, ध्यान मन को शांत करता है और गीता आत्मा को दिशा देती है।" योग और गीता मिलकर न केवल मानसिक विकारों से मुक्ति देते हैं, बल्कि जीवन को ऊर्जावान, सकारात्मक और आत्म-निष्ठ बनाते हैं।

भगवद्गीता के श्लोक केवल शब्द नहीं हैं, वे "मन का दर्पण" और "आत्मा का संगीत" हैं। ये श्लोक जीवन के हर संघर्ष में हमें धैर्य, स्पष्टता और आंतरिक शांति प्रदान करते हैं।मन को जीतना ही असली विजय है।" जब हम सकारात्मक सोचते हैं और आत्मा को पहचानते हैं, तब हम हर परिस्थिति में मानसिक रूप से मज़बूत रहते हैं और यही हमें चिंता, तनाव, अवसाद से मुक्ति देकर स्वस्थ, संतुलित और सफल जीवन की ओर ले जाता है।

3.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. मानसिक स्वास्थ्य पर अष्टांग योग के प्रभाव का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये।
2. गीता में बताये गये मानसिक स्वास्थ्य के सिद्धांतों का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये।
3. चित्त की वृत्तियों और उनके नियंत्रण पर एक लेख लिखिये।
4. अर्जुन के विषाद से मुक्ति का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण समझाइये ।

3.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. The Impact of Yamas and Niyamas of Ashtanga Yoga on Human Life: A Study (Dipali Vadgama) DOI: https://doi.org//10.31305rrjiks..2024v.1n2.003
2. Dalai Lama. (.(1999Ethics for the New Millennium. Riverhead Books.
3. Desikachar, T.K.V. (.(1995The Heart of Yoga: Developing a Personal Practice. Inner Traditions.
4. Feuerstein, G. (.(2003The Yoga Tradition: Its History, Literature, Philosophy, and Practice. Hohm Press.
5. Frawley, D. (.(2000Yoga and Ayurveda: Self-Healing and Self-Realization. Lotus Press.
6. Harvard Medical School. (.(2017Yoga and Mental Health: The Science Behind the Practice. Harvard Health Publishing.
7. lyengar, B.K.S. (.(1966Light on Yoga. HarperCollins.
8. https://shridayalspinecare.com/chitt-hindi/

खण्ड- चार (Section-D)
चिकित्सा एवं ज्योतिष

इकाई-1 चिकित्सा ज्योतिष का परिचय एवं अनुप्रयोग

इकाई की संरचना

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 ज्योतिष परिचय
1.4 ग्रह प्रभाव का सिद्धांत
1.5 ग्रह प्रभाव का सिद्धांत
1.6 अभ्यास प्रश्न
1.7 सारांश
1.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची
1.10 सहायक पाठ्यसामग्री
1.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई चिकित्सा विज्ञान नामक पाठ्यक्रम के चिकित्सा एवं ज्योतिष नामक चतुर्थ खण्ड की प्रकम इकाई से सम्बन्धित है। जिसका शीर्षक **" चिकित्सा ज्योतिष का परिचय एवं अनुप्रयोग"** है। इस से पूर्व की इकाई में आपने चिकित्सा एवं योग के सम्बन्ध को जाना। अब इसी क्रम में हम जानेंगे कि चिकित्सा ज्योतिष क्या है, कैसे रोगों की चिकित्सा की जाती है, कैसे चिकित्सा में ज्योतिषशास्त्र की परम्परा रही है और आज के वैज्ञानिक युग में इसकी क्या प्रासंगिकता है, इत्यादि विषयों का हम विस्तार पूर्वक इस इकाई के अन्तर्गत अध्ययन करेंगे।

1.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप–

- ज्योतिषशास्त्र का सामान्य परिचय प्राप्त करेंगे।
- ज्योतिष में रोग ज्ञान की परम्परा से परिचित हो पायेंगे।
- चिकित्सा ज्योतिष के सिद्धांतों से परिचित हो पायेंगे।
- ज्योतिष व आयुर्वेद शास्त्र का परस्पर क्या सम्बन्ध है जान पायेंगे।
- साथ ही ये भी जान पायेंगे कि कैसे शास्त्र में चिकित्सा की जाती है।

1.3 ज्योतिष परिचय

सर्व प्रथम हम चिकित्सा ज्योतिष की बात करने से पहले सार रूप में ज्योतिषशास्त्र को समझने का प्रयत्न करते हैं - प्राचीनकाल से ही ज्योतिष शास्त्र का सम्बन्ध मानव और मानवीय सभ्यता एवं तत्सम्बन्धी इतिहास से अभिन्न रूप से जुदा हुआ है। आदिकाल में केवल सूर्यादि ग्रहों एवं काल का बोध करवाने वाले शास्त्र को ही ज्योतिष शास्त्र माना जता था – **"ज्योतिषं सूर्यादि ग्रहाणां बोधक शास्त्रम्"** परन्तु शनै: शनै: मानवीय सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य कि बाह्य एवं आंतरिक प्रवृत्तियों का अनुशीलन भी इस शास्त्र के अन्तर्गत किया जाने लगा। मनुष्य जीवन के प्रत्येक क्रिया-कलाप– जैसे सुख-दुःख उन्नति-अवनति , इष्ट-अनिष्ट , भाग्योदय आदि सभी का समाधान ज्योतिष शास्त्र में ढूंडा जाने लगा ज्योतिष शास्त्र की उपादेयता के सम्बन्ध में किसी भी बुद्धि–जीवी व्यक्ति को संदेह नहीं होना चाहिए। जैसे की पूर्व में चर्चा हुई की यह शास्त्र एक सुचनाताम्क शास्त्र है। इस शास्त्र के ज्ञान के द्वारा मनुष्य को शुभ, अशुभ काल , यश– अपयश , लाभ–हानि जन्म-मृत्यु , भाग्योदयादी का ज्ञान होता है। उदाहरण के तौर पे देखें – जैसे वर्षा आगमन की सूचना शीतवायु के प्रवाह से पूर्वत: ही मिल जाती है , एवं जैसे मछलीयों को सामुद्रिक तूफ़ान की पूर्वानुभूति हो जाती है ,उसी भाँती ज्योतिष आचार्यों द्वारा प्रणीत ज्योतिषीय सूत्रों से मनुष्य के अनुकूल-प्रतिकूल समय का बोध कराने वाला एक मात्र साधन ज्योतिष शास्त्र ही है। प्राचीन काल में दो ही विज्ञान प्रमुख थे एक आयुर्विज्ञान और दुसरा ज्योतिर्विज्ञान। भारतीय वैदिक वाङमय में **"यथा पिंडे तथा ब्रह्मांडे"** का सिद्धान्त सुदूरतम प्राचीनकाल से ही लोक विद है। इस सिद्धांत से ये मालूम होता है, कि सौर जगत में सूर्य चन्द्रादि ग्रहों की विभिन्न गतिविधियों एवं क्रिया- कलापों में जो सिद्धांत काम करते हैं , ठीक तदनुरूप प्राणी मात्र के शरीर में स्थित सौर जगत की इकाई का संचालन करते हैं। इस सिद्धांत को यदि हृदयंगम करें तो हमें प्राणी – पदार्थ की आंतरिक संरचना के आधार पे ध्यान देना होगा

। प्रत्येक प्राणी या पदार्थ की सूक्ष्म तथा प्रथम संरचना का आधार परमाणु है और इन परमाणुओं की इकाईयों 'ईंटों' को जोड़कर प्राणी या पदार्थ का वृहत्तम भवन ढांचा तैयार होता है । यह परमाणु सौर जगत के सामान आकार- प्रकार वाला होता है। इसके मध्य में एक धन विद्युत् बिंदु होता है, जिसे केंद्र कहते हैं इसी केंद्र के चारों और अनेक सुक्ष्मातिसुक्ष्म विद्युतकण चक्कर लगाते हैं। और वे इस गति - विधि में सौर जगत के प्रत्येकक्रिया- कलाप का अनुकरण करते हैं । इस प्रकार के अनन्त परमाणुओं – जिन्हें शरीर विज्ञान की भाषा में कोशिकाएं 'cells' कहा जता है। और इन्ही कोशिकाओं के माध्यम से हमारा शरीर एवं शरीर के अवयव सौर जगत के क्रिया – कलापों का अनुकरण करते हैं।

प्रथम अवलोकन से हमें यह कठिन हो सकता है , कि हमारे और ग्रह – नक्षत्रों के मध्य कोई सीधा सम्पर्क या आदान- प्रदान है । किन्तु हमें यह बात दृष्टि से ओझल नहीं होने देनी चाहिए कि विद्युत् एवं ब्रह्मांड रश्मियों द्वारा हमारा सौर जगत में स्थित ग्रहनक्षत्रों के पिंडों से सीधा सम्पर्क है – जिनकी रासायनिक बनावट निरंतर परिवर्तित होती हुई हम पर सतत एवं अविछिन्न प्रभाव डाल रही है । उपरोक्त बातें निर्विवाद रूप से सत्य हैं कि ब्रह्मांड एवं उसके वासियों के बीच सतत्त सम्बन्ध मानने का समस्त श्रेय प्राचीन भारतीय ऋषि – महर्षि – मनीषियों को ही जाता है जिन्होंने इस सम्बन्ध को स्वीकार कर ज्योतिष एवं योग शास्त्र के सुमानी सिद्धांतों का प्रणयन किया है।

1.4 ग्रह प्रभाव का सिद्धांत

भारतीय दर्शन की मान्यतानुसार त्रिगुणात्मक प्रकृति के द्वारा निर्मित समस्त जगत सत्व , रज, एवम, तमोमय है। ज्योतिष- शास्त्र में भी सूर्यादि ग्रहों का इन तीनों गुणों में वर्गीकरण किया गया है। जिसका अध्ययन हम अग्रिम इकाईयों में विस्तार पूर्वक करेंगे।

जिन ग्रहों में सत्व गुण अधिक रहता है, उनकी अमृतमय किरणें; जिनमें रजोगुण अधिक रहता है, उनकी उभय–गुण मिश्रित किरणें, जिनमें तमोगुण अधिक रहता है, उनकी बिषम किरणें एवं जिनमें तीनों गुणों की अल्पता रहती है, उनकी गुणहीन किरणें मानी गयी हैं। ग्रहों के शुभाशुभत्व का विभाजन भी इन किरणों के गुणों से ही हुआ है। आकाश में ग्रहों की गति एवं युति से रश्मियाँ परस्पर मिलती रहती हैं और एक–दुसरे के गुणों को प्रभावित करती रहती हैं। रश्मिविश्लेष्ण का सिद्धांत बताता है। कि प्रत्येक ग्रहों की रश्मियों में स्थान एवं काल विशेष पर उनके गुणों में ह्रास–वृद्धि होती रहती है, जिसे ज्योतिष शास्त्र की परिभाषा में स्थान बल, दिक्बल कालबल, एवं चेष्टा बल कहा गया है। अत: ग्रहों के शुभाशुभ का विचार करते समय उनके बलाबल का विचार करना भी परम–आवश्यक माना गया है।

आकाश में प्रतिक्षण अमृतरश्मि सोम्य ग्रह अपनी गति से जहाँ–जहाँ गमन करते हैं, उनकी किरणें भूमण्डल के उन प्रदेशों पर पड़कर वहाँ के निवासियों के स्वास्थ्य एवं बुद्धि-आदि पर अपना सोम्य या शुभ प्रभाव डालते हैं। विषमय किरणों वाले क्रूर ग्रह अपनी गति से जहाँ गमन करते हैं, वहाँ के निवासियों के स्वास्थ्य और बुद्धि पर वे अपना दुष्प्रभाव डालते हैं। मिश्रित रश्मि ग्रहों का प्रभाव मिश्रित एवं गुणहीन रश्मि वाले ग्रहों का प्रभाव अकिंचकर होता है। ग्रहों की गति एवं स्थिति की विलक्षणता के कारण यह प्रभाव समस्त पृथ्वी पर एक सा नहीं होता ; क्यूंकि एक कलावच्छेदन दो विभिन्न देशों पर विभिन्न ग्रहों की रश्मियां एक जैसी नहीं पडतीं। विभिन्न देशों में सूर्य एवं चन्द्र आदि ग्रहों के उदयास्त काल की भिन्नता या देशांतर –

संस्कार को यहाँ साक्ष्य रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। अत: यह निष्कर्ष अनायास ही समझ में आ जाता है ,कि स्थान विशेष पर ग्रह रश्मियों के वातावरण की अपनी निजी विशेषता के कारण वहां उत्पन्न जातक अन्य स्थान पर उसी क्षण जन्मे व्यक्ति की अपेक्षा भिन्न स्वभाव , भिन्न आकृति एवं विलक्षण शरीरावयव वाला होगा। इनके स्वास्थ्य आदि वैसा ही बन जाता है। अस्तु इस प्रबंध में मानव के स्वास्थ्य पर अपना प्रभाव डालकर ग्रह किन-किन रोगों को उत्पन्न करते हैं ? यह विचारणीय है''।

1.5 रोग विचार के सिद्धांत

सनातनी परम्परा में यह शास्त्र उक्ति विख्यात है कि "**वेदोऽखिलं धर्ममूलम्**" वेद का लक्ष्य है ईष्ट प्राप्ति और अनिष्ट परिहार आर्थात हमारे अशुभत्व का शमन और अभीष्ट की प्राप्ति इसी सिद्धांत को हृदयंगम करके वेदांग शास्त्र ज्योतिष का भी यही लक्ष्य है कि हमारे शुभाशुभ कर्मों के वशीभूत अशुभ फल को पहचान कर जो कि जातक के जन्मांग में अशुभ ग्रहयोग, दशा व गोचर के माध्यम से हम शास्त्रानुशरण करके ज्ञात करते हैं, कि अमुक व्यक्ति को अमुक कालखण्ड में अमुक रोग होगा। इन सब विषयों का ज्ञान हम विधिवत चिकित्सा ज्यतिष के माध्यम से ही जान सकते हैं। प्राचीन भारत में ज्योतिषशास्त्र के मनीषी चिंतकों ने इस शास्त्रके सुमानी नियमों द्वारा मनुष्य के स्वास्थ्य तथा उसमें उत्पन्न होने वाले विकारों का विचार काफी गम्भीरता से किया है। आचार्य वाराहमिहिर ने अपनें बृहज्जातक में अपने से पूर्ववर्ती मय, यवन, मणिथ, शक्ति, जीव शर्मा एवं सत्याचार्य आदि मनीषियों का नामोल्लेख करते हुए बताया है, कि इन विद्वानों ने मनुष्य की आयु के यथार्थ रूप से परिज्ञान के लिए अनेक महत्वपूर्ण एवं उपयोगी सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है।

यद्यपि आजकल इन आचार्यों की कोई रचना या ग्रन्थ उपलब्ध नहीं। किन्तु प्राचीनकाल में इनके द्वारा विरचित ग्रन्थ अवश्य रहे होंगे, जिनका सम्यक परिशीलन, मनन एवं चिंतन कर वाराहमिहिर ने मनुष्य की आयु और मानव जीवन में उत्पन्न होने वाले अनेक रोगों के योगों का प्रतिपादन किया है।

वाराहमिहिर के काल सन् ५०५ में जातक ग्रंथों में जन्मजात एवं जन्म के बाद उत्पन्न होने वाले रोगों का –योग , दशा एवं,गोचर के आधार पर विचार होने लगा था। यद्यपि उस समय उस अन्धता, काणत्व, मूकता, बधिरता, पंगुता एवं नपुंसकता जैसे जन्मजात रोगों और ज्वर , अतिसार पाण्डु, उदर रोग , कास , कुष्ठ जलोदर क्षय , गुल्म , राजयक्ष्मा , प्रमेह , गुप्तरोग, उन्माद एवं अपस्मार आदि जन्म के बाद उत्पन्न होने वाले रोगों के विचार तक सीमित रहा है। किन्तु इतने प्राचीन काल में इन रोगों को कर्मजन्य मान कर, जिनके कार्य – कारणों का आयुर्वेद में भी स्पष्टतया प्रतिपादन नहीं हो पाया था। वे विचारणीय एवं विवेचनाधीन हैं ।

चिकित्सा ज्योतिष के परिचय में हमको सर्व प्रथम यह जानने की आवश्यकता है, की शास्त्र में रोगों का विचार किस पद्धति से किया जाता है, किन- किन भावों का व ग्रहों की इसमें प्रधान भूमिकाएं हैं, इत्यादि विषयों को समझना होगा। ज्योतिष शास्त्र की मान्यतानुसार रोगों का विचार इस प्रकार किया जाता है –

षष्ठ { रोग } भाव , षष्ठ भाव में स्थित ग्रह , व्यय तथा अष्टम स्थान में स्थित ग्रह और इन भावों के स्वामी ग्रह , षष्ठेश { रोगेश} से युक्त या दृष्ट ग्रह एवं भाव, से रोग विचार किया जाता है। इसके अतिरिक्त पाप- प्रभाव – युक्त राशियाँ एवं भाव, नीच राशि- गत, अस्तं गत ग्रह तथा

निर्बल ग्रह , लग्न और लग्नेश ग्रह , अवरोही, ग्रह, क्रूरषष्ट्याशगत ग्रह, मारक ग्रह एवं बालारिष्ट कारक ग्रह भी रोगों के कारक माने गये हैं। इन ग्रहों के शुभाशुभत्व एवं बलाबलत्व के आधार पर रोग तथा रोगी की चर्या, प्रभाव और कालावधि का निर्धारण किया जाता है। और बहुलांश में रोग के साध्य - असाध्यत्व का निर्णय किया जाता है।

इस विषय को विस्तार पूर्वक जानने से पहले ये जानना आवश्यक है कि ग्रह फलाफल के नियामक नहीं है , अपितु सूचक हैं। अर्थात ग्रह किसी को सुख – दु:ख नहीं देते हैं; आर्थात आने – वाले सुख: दु:ख की सूचना देते हैं। वस्तुत: ग्रह अपनी गति, स्थिति एवं युति के द्वारा यह व्यक्त करते हैं कि उनकी रश्मियों का हम पर सतत एवं सुनिश्चित प्रभाव पड़ता है। पर यह स्मरण रखने योग्य बात है, कि हम इस प्रभाव के हेतु भूत – भौतिक एवं मनोवैज्ञानिक कारणों में विपर्यय कर इसे अन्यथा सिद्ध कर सकते हैं। ग्रह चिकित्सा दूषित फल को दूर करने के सभी उपाय इस सिद्धांत पर आधारित हैं। इस विषय पर विस्तार से विचार करने के पूर्व एक बात और स्पष्ट कर देना चाहेंगे कि ग्रह फलाफल के नियामक नहीं है ,अपितु सूचक हैं । अर्थात ग्रह किसी को सुख- दु:ख की सूचना देते हैं।

इस सिद्धांत को और अधिक स्पष्ट करने के लिए ग्रहों के अनिष्ट प्रभाव को दूर करने के लिए , जो रत्न धारण की परिपाटी ज्योतिष- शास्त्र में प्रचलित है, उसे उदाहरण के तौर पर प्रस्तुत किया जा सकता है। प्राय: सौरमण्डलीय वातावरण का प्रभाव पाषाणों के रंग – रूप , आकार-प्रकार तथा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि तत्त्व की प्रधानता पर पड़ता है। सत्व – गुण वाली रश्मियों के ग्रहों के प्रभाव में उत्पन्न व्यक्ति को वैसे ही रश्मियों के वातावरण में उत्पन्न रत्नं धारण कराया जाय, तो वह व्यक्ति नैसर्गिक क्षमताओं में वृद्धि कर उचित परिणाम देगा। यदि व्यक्ति को ग्रहों के विपरीत – प्रभावोत्पन्न धारण करना इस शास्त्र का अभिप्रेत है। एक अन्य प्रकार यह है कि ग्रहों के जिन तत्वों के प्रभाव से जो रत्न विशेष प्रभावित हैं, उनका प्रयोग उस ग्रह के तत्व के अभाव में उत्पन्न मनुष्य पर किया जाय तो वह क्षतिपूर्ति के सिद्धातानुसार उस व्यक्ति को उचित शक्ति देने वाला होगा उदाहरणार्थ कृष्णपक्ष में उत्पन्न जिन व्यक्तियों को चंद्रमा का अरिष्ट होता है, अर्थात् जिन्हें चन्द्रबल या चन्द्रमा की अमृत- रश्मियों की शक्ति उपलब्ध नहीं होती, उनके शरीर में कैल्शियम चूने की अल्पता रहती है। ऐसी अवस्था में चन्द्र- प्रभाव जन्य उक्त कमी को पूरा करने के लिए मोक्तिक मणि का प्रयोग लाभ कारी होता है। यही कारण है कि ज्योतिष शास्त्र चन्द्रमा के कष्ट से पीड़ित व्यक्ति को मोती के प्रयोग का निर्देश देता है।यह प्रयोग रत्नधारण या रत्नजन्य–औषधि के रूप में किया जा सकता है 'मुक्ता भस्म, मुक्ता पिस्टी इत्यादि औषधि चन्द्र जन्य रोगों में लाभ कारी है। इसी क्रम में अन्य ग्रहों से सम्बन्धित मणि, रत्न, औषधि का भी प्रयोग होता है जिसके विषय में हम आगे की इकाईयों में जानेगें।

1.6 अभ्यास प्रश्न

1. भारतीय दर्शन की मान्यतानुसार गुण कितनें प्रकार के होते हैं।
2. मणि, मन्त्र औषधि को क्या कहा जाता है।
3.आचार्य वाराहमिहिर का काल कोन सा है।
4.ग्रह, योग, दशा, गौचर का फल किस आधार पर किया जाता है।

1.7 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने चिकित्सा ज्योतिष के विषय में विस्तृत रूप से जाना कि किस प्रकार ग्रहों की रश्मियों का प्रभाव मानव पर पड़ता है, और उसका शुभा - शुभत्व के कारण रुग्णता और स्वस्थता का क्रम चलता है। इसी प्रकार कोन – कोन से भाव , ग्रह , राशियाँ रोग प्रद स्थिति उत्पन्न करती है तथा उसके साध्यता – असाध्यता के क्या लक्षण हैं , इत्यादि विषयों का सम्यक अध्ययन किया आशा है,इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप को चिकित्सा ज्योतिष के स्वरुप को समझने में सहायता मिलेगी।

1.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.तीन - सत्व , रज , तम

2. ग्रह चिकित्सा

3 लगभग 505 ई.

4. त्रिविध कर्माश्रित

1.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची/सहायक पाठ्यसामग्री

1. मेडिकल एस्ट्रोलोजी मूल संकल्पना एवं सिद्धांत, प्रो.शुकदेव चतुर्वेदी।

2. चरक संहिता सूत्र स्थान / सुश्रुत संहिता

3. प्रश्नमार्ग / माधव निदान

4. गदावाली / ज्योतिष शास्त्र में रोग विचार, प्रो.शुकदेव चतुर्वेदी।

5. वीर सिंहावलोक।

6. स्वस्थ वृत्त विज्ञान, डॉ. राम हर्ष सिंह, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठानम, दिल्ली।

1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1.त्रिविध कर्मों का सविस्तार परिचय दीजिए।

2. रोगों का कारकत्व करने वाले भावों व ग्रहों का परिचय दीजिए।

3.चिकित्सा ज्योतिष की आज के परिप्रेक्ष्य में क्या भूमिका हो सकती है स्व विचार पूर्वक लिखिए।

इकाई-2 ज्योतिष एवं आयुर्वेद का परस्पर सम्बन्ध

इकाई की संरचना

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 आयुर्वेद एवं ज्योतिष विज्ञान
2.4 आयुर्वेद की परिभाषा
2.5 ज्योतिष व आयुर्वेद की दृष्टि से रोगोत्पत्ति
2.6 ज्योतिषशास्त्र और आयुर्वेद की चिकित्सा पद्धति
2.7 ज्योतिष तथा आयुर्वेद का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध
2.8 बोधात्मक प्रश्न
2.9 सारांश
2.10 बोधात्मक प्रश्नों के उत्तर
2.11 संदर्भ ग्रन्थ सूची/सहायक पाठ्यसामग्री
2.12 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

"ज्योतिष और आयुर्वेद का परस्पर सम्बन्ध" यह बात निर्विवाद रूप से सत्य है, कि हमारे शास्त्र परम्परा में जहाँ एक शास्त्र अपनी शास्त्रीय अवधारणा या सिद्धांतों में कहीं डगमगाता है तो वहीं दूसरा शास्त्र उसका पूरक हो जाता है यही बात ज्योतिष और आयुर्वेदशास्त्र के विषय में भी परस्पर प्रतीत होती है। इसलिए आयुर्वेद को ज्योतिष शास्त्र का यमल भ्राता कहा जाता है। हमारे शरीर एवं मन में उत्पन्न होने वाले विकार, जिनसे हमें किसी भी प्रकार का दुःख मिलता है, उसे रोग कहा जता है। इन रोगों की उत्पत्ति के कारण, लक्षण, भेद एवं चिकित्सा विधि में आयुर्वेद एवं ज्योतिष में कितनी सामानता है ? व दोनों शास्त्रों का परस्पर सम्बन्ध को हम इस इकाई के अन्तर्गत जानेंगे।

2.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप–

- ज्योतिषशास्त्र व आयुर्वेद शास्त्र का सामान्य परिचय प्राप्त करेंगे।
- ज्योतिष व आयुर्वेद में रोग ज्ञान के मुख्य सूत्रों से अवगत होंगे।
- ज्योतिष व आयुर्वेद के अन्त: करण सिद्धांतों से परिचित हो पायेंगे।
- ज्योतिष व आयुर्वेद शास्त्र का परस्पर क्या सम्बन्ध है जान पायेंगे।
- साथ ही ये भी जान पायेंगे कि कैसे दोनों शास्त्र रोग निर्णय व रोगशमन में एक दूसरे के पूरक हैं।

2.3 आयुर्वेद एवं ज्योतिष विज्ञान

भारत के ऋषियों ने ग्रहों के प्रभाव एवं परिणामों को सम्भवत: दो विधियों द्वारा जाना होगा– 1.अंतर्दृष्टि एवं 2.अवेक्षण। अंतर्दृष्टि, अन्तरदर्शन या दिव्यदृष्टि एक वैयक्तिक अनुभूति है, अथवा इसको एक विशेष प्रकार की सूक्ष्मता कह सकते हैं, जिसे महर्षियों ने तपस्या, सदाचारी जीवन एवं योगाभ्यास द्वारा प्राप्त किया था।

ब्रटेल रसेल के विचार में –' तथ्य संग्रह के साधन के रूप में ' अन्तरदृष्टि एक वैद्य विधि है, जो पर्याप्त मात्र में वैज्ञानिक प्रविधि के आस-पास आ जाती है। अंतर्दृष्टि-अभिज्ञान में एक मौलिक प्रकार की निश्चितता एवं विश्वसनीय पाया जती है। क्यूंकि यह विचारणीय पदार्थ के प्रस्तुत या प्रशंसनीय गुण–दोषों की छान – बीन में ही नहीं लगी रहती है, अपितु वह उसकी अंतर्वस्तुओं की प्रकृति के विषय में सर्वथा अनासक्त रहते हुए विचारणीय पदार्थ के समग्र रूप का अवलोकन कर उसका यथार्थ रूप चित्रित करती है। हमार महर्षियों ने योग सिद्धि के उचतर स्तर पर पहुँच कर ग्रह पिण्डों से सीधा सम्पर्क कर उनके रहस्यों की यांत्रिक उपकारणों के बिना ही अंतर्दृष्टि अभिज्ञान द्वारा अधिगत कर उनका यथार्थ रूप से प्रतिपादन किया। इसके साथ-साथ अवेक्षण ने भी अपना कार्य किया होगा। ऋषियों ने अकेली–अकेली और सामूहिक घटनाओं को बार- बार घटित होने वाली ग्रह स्थितियों के प्रकरण में ध्यान पूर्वक देखकर विशेष ग्रह योगों के प्रभाव वश लोगों पर विशेष प्रकार की शारीरिक एवं एवं मानसिक प्रतिक्रियांयें देखि होगी। सैकड़ों वर्षों तक लगातार चलने वाले इस प्रकार के सर्वेक्षणों ने ऋषियों को समाहित कर दिया होगा कि विभिन्न राशियों में विविध ग्रहों के होने पर जन्म लेने वाले जातकों में सुविशेष प्रकार की शारीरिक एवं मानसिक विलक्षणताएं होती है। प्राचीन–ऋषियों ने केवल

मन की एकाग्रता द्वारा वे तथ्य खोज निकाले , जिनके बाहरी स्तर को भी आज के वैज्ञानिक छू तक नहीं पाये हैं । इसका मुख्य कारण है चित वृतियों का निरोध जिससे विछिन्न एकाग्रता स्वयम उत्पन्न हो जाती है । चित्त-वृत्तियों के निरोध के लिए पूर्ण अनासक्ति की आवश्यकता होती है । क्यूंकि अनासक्ति के बिना न तो पूर्वाग्रह नष्ट होता है और न ही तटस्थता पूर्वक अवलोकन किया जा सकता है । इसलिए अनासक्ति के विना अज्ञात– क्षेत्र की खोज करना और यथार्थ परिणाम निकाल लेना संभव नहीं है । यह चमत्कार वसिष्ठ , अंगिरा , पराशर , जैमिनी, लोमश, गर्ग पतंजलि, कपिल एवं कणाद आदि के ही वश का था, कि उन्होंने शुद्ध अंत: करण, मनोयोग एवं अनासक्ति भाव से अपनी उन्नत अंतर्दृष्टि से अदृश्य एवं अमूर्त विषयों की रहस्यमयी परतों को उलट–पलट कर महान एवं मौलिक तथ्यों एवं उनको जानने की प्रविधियों को खोज निकाला ।हमारी सारी प्राच्य विद्याएँ उन्हीं के तपोमय अन्वेषण का परिणाम है।

इसी प्रकार आयुर्वेद शास्त्र का भी उद्भव हुआ । आज से हजारों वर्ष पूर्व जब तपस्या, व्रत, उपवास अध्ययन में रत मनुष्यों में विघ्न भूत रोग , जीवन को कष्टमय बनाने लगे तो , तब हिमालय के निकट अंगिरा , जमदग्नि, वसिष्ठ , - कश्यप भृगु , आत्रेय , गौत्तम , शांडिल्य, नारद , अगस्त आदि ५४ ऋषि एकत्रित होकर यह विचार करने लगे ,कि इन रोगों से मुक्ति का उपायय क्या है । सभी ने ध्यान चक्षु { योग विद्या } से देखा कि इन रोगों से बचने का उपाय इन्द्र के पास है । यह ज्ञान व्रह्मा से प्रजापति को, प्रजापति से अश्विनी कुमार को , अश्विनी कुमार से इन्द्र के पास सुरक्षित है । सभी ऋषियों ने आपस में विचार किया कि कोन ऋषि इन्द्र के पास जाकर यह ज्ञान सीखेगा । तब भारद्वाज ऋषि ने यह दायित्व खुद सम्भाला और इन्द्र के पास जाकर आयुर्वेद के ज्ञान को सीखने लगे । तथा त्रि सूत्र आयुर्वेद को सीखा। त्रिसूत्र – हेतु { कारण } लिंग { लक्षण } तथा औषधी है । स्वस्थ व्यक्ति के हेतु , लक्षण तथा औषधि एवं रोगी व्यक्ति के रोग के कारण , लखण, तथा औषधि का ज्ञान प्राप्त करके । आत्रेयादि ऋषियों को उपदिष्ट किया । आत्रेय ने अग्निवेश प्रमुख ६ ऋषियों को इस आयुर्वेद के ज्ञान को दिया । अग्निवेश ने प्रथम अग्निवेश तन्त्र की रचना की । बाद में चरक ने इसे परिवर्धित करके चरक संहिता के नाम से पूरित किया । हजारों वर्ष के बाद यह चरक संहिता विखण्डित हो गई , और महर्षि दृढ बल ने पूरित किया । आज जो आयुर्वेद की प्रमुख संहिता है वह चरक संहिता ही है । वह आत्रेय काल , अग्निवेश काल ,चरक काल तथा दृढ बल काल की सम्पूर्ण संहिता है । त्रिसूत्र आयुर्वेद –

हेतु- लिंग औषधि ज्ञानं स्व स्थातु परायणम्।
त्रिसूत्रं शास्वतं पुण्यं वुबुधर्मम पितामह ।। च. सू.१\२४

2.4 आयुर्वेद की परिभाषा

हिताऽहितं सुखं दु:खमायुस्तस्य हिताहितम् ।
मानं च तत्व भवो तत्र आयुर्वेद: स उच्यते ।।च.सू.१/४१

महर्षि चरक आयुर्वेद की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि जिस शास्त्र में हित आयु, अहित आयु, सुखायु, दु:खायु तथा आयु का मान इनके लिए क्या उपयोगी है, क्या अनुपयोगी है इसका वर्णन जिस शास्त्र में हो उसे आयुर्वेद शास्त्र कहते हैं । अब यहाँ पर विचार आता है कि आयु क्या है । इसका वर्णन आगे करते हुए आचार्य लिखते हैं कि , शरीर, इन्द्रिय, सत्व {मन}, आत्मा, इन चार के संयोग को आयु कहते हैं । इसके धारि जीवित नित्यम तथा अनुबन्ध ये पर्यायवाची हैं। **धार्यतीति जीवितम्। नित्यं शरीरस्य क्षनिक्त्वेन्न गच्छतीति नित्यग:**

आर्थात् प्रतिक्षण शरीर का परिवर्तन होता रहता है। अनुबन्ध = गर्भावस्था के प्रथम क्षण से लेकर मृत्यु पर्यंत शरीर के साथ चेतना का अनुबन्ध रहना। यदि शरीर से चेतना { आत्मा } का अनुबन्ध समाप्त हो जाता है ;वह मृत शरीर या पंचत्व प्राप्त शरीर होता है। इसकी अब आयु समाप्त है। तो तात्पर्य यह हुआ कि जन्म के प्रथम क्षण से लेकर आयु की समाप्ति तक के ज्ञान को आयुर्वेद कहते हैं। यथाहि –

शरीरन्द्रिय- स्वात्म संयोगो धारी जीवितम्।
नित्यगाशचानुबन्धस्य पर्यायेरायुरुच्यते ।। च.सं.१/४२-४३

इससे यह तात्पर्य हुआ कि रोगों का अधिष्ठान शरीर एवं मन है। शारीरिक रोग शरीर के होते हैं और मानसिक रोग मन के होते हैं। आयुर्वेद का आधार ही त्रि सूत्र है। अत: व्यक्ति सवस्थ कैसे रहे। इसके लिए जो भी हेतु लिंग , औषध उन्हें स्वास्थ्य वर्धन या आरोग्यता के उपाय नाम से जाना जाता है। स्वस्थ केवल जन्मोत्तर बाल्यावस्था से न लेकर गर्भावस्था बालक की प्रथम दिन से गर्भाशय के बाहर आने तक की आयु काल को स्वस्थ एवं रुग्ण दोनों भागों में विभाजित किया जाता है। कुछ महिलाओं का गर्भपात , १० दिन में हो जाता है , कुछ का एक माह में , कुछ ४ माह व कुछ का ८ मास का भी, यह स्वस्थ बालक का जन्म नहीं है। उसी तरह कोई बालक जन्मांध उत्पन्न हो जाता है किसी के दो शिर होते हैं कोई मूक व बधिर पैदा होता है यह भी स्वस्थ बालक का जन्म नहीं है , जोतिश शास्त्र में ऐसे जन्मजात रोगों को कर्मजन्य व्याधियों के रूप में जाना जाता है जिसे आयुर्वेद भी स्वीकारता है , आर्थात दोनों में सामानता नजर आती है। अत: स्वस्थ रहने के लिए चाहे वह बालक हो या युवा , वृद्ध या नर-नारी , सभी के स्वस्थ रहने के लिए आयुर्वेद में उपाय बताए गए हैं। तथा रोगी व्यक्ति के भी कारण , लक्षण एवं रोग शमन के उपाय कहे गए हैं। यही आयुर्वेद का प्रमुख प्रयोजन है।

स्वस्थस्य स्वास्थ्य रक्षणम्। आतुरस्य विकार प्रशमनं च ।। च.सं.सू.३०\२६

2.5. ज्योतिष व आयुर्वेद की दृष्टि से रोगोत्पत्ति –

ज्योतिष शास्त्र एवं आयुर्वेद दोनों इस बात पर सहमत है कि मनुष्य अपने पूर्वार्जित अशुभ कर्मों के प्रभाववश रोगी बनता है। तथा जीवन की अन्य घटनाओं की तरह मनुष्य को होने वाले रोगों की जानकारी जन्मकुंडली के द्वारा प्राप्त की जाती सकती है। आयुर्वेद का सिद्दान्त- पक्ष है कि कर्म प्रकोप एवं दोष – प्रकोप रोगोत्पत्ति के हेतु है। सामान्यतया अनुचित – आहार – विहार से रोग उत्पन्न होते हैं।

महर्षि चरक ने भी चरक संहिता के उत्तर तंत्र में कहा है 'मिथ्याहार विहाराभ्यां रोगोत्पत्ति प्रजायते'। किन्तु जब ऋतू के अनुसार आहार विहार किया जाय, तन और मन साद वृत्ति से कार्य करें , मौसम भी रोगोत्पत्ति का न हो और अचानक इस स्थिति में रोग पैदा हो जाय तो उस रोग को कर्मजन्य मानना चाहिए।[३ सु.सं.] आयुर्वेद में कर्मजन्य रोगों का कारण जो कर्म माना गया है , वह संचित कर्म है , जिसके एक भाग कप प्रारब्ध कहते हैं तथा मिथ्या आहार – विहार को क्रियमाण कर्म। इस प्रकार क्रम प्रकोप एवं दोष प्रकोप दोनों के मूल में अशुभ या अनुचित कर्म ही मूल कारण होता है ; इसलिए ज्योतिष शास्त्र के आचार्यों ने मनुष्य के पूर्वार्जित कर्मों वे चाहे इस जन्म के हो या जन्म जन्मान्तरों के हो सभी अशुभ कर्म रोग और दु:ख के सूचक होते हैं। या यूँ समझें रोग के कारण माने जाते हैं।

शतात्पीय तंत्र में कहा गया है – कि पूर्व जन्म में किया गया पाप इस जन्म में कुष्ठ, क्षय, प्रमेह, संग्रहणी इत्यादि व्याधियों को उत्पन्न करते हैं। त्रिशठाचार्य के अनुसार भी उदार रोग, गुप्त रोग, उन्माद, अपस्मार, पंगुता, कर्ण रोग, वाक्, दोष प्रमेह, संग्रहनी अश्मरी, अतिसार, भगन्दर जैसे रोगों को उत्पन्न करते हैं। रोगोत्पत्ति के संदर्भ में आयुर्वेद के परम्परागत विद्वानों का कहना है, कि आहार-विहार की अनियमितता से रोग पैदा होते हैं और यदि मनुष्य इन पर समुचित नियंत्रण रखें, तो वह स्वस्थ एवं दीर्घजीवी हो सकता है। किन्तु जोतिश शास्त्र की मान्यता इससे भिन्न है। क्यूंकि यह बात अनेक बार प्रत्यक्ष रूप से देखने में आती है कि कुछ लोग नितांत अनियमितता जीवन बिताते हैं और उनका खान – पान भी अनियंत्रित होता है। और कुछ लोग नियमित जीवन एवं सदाचार के घनी होते हुए भी रोगों के शिकार हो जाते हैं। इस विषय में इस विषय में आचार्य शंकर एवं स्वामी विवेकानंद का नाम साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है , जिनकी मधुमेह के कारण असामयिक मृत्यु हुई।

इस विषय एक ध्यान देने योग्य बात है, कि यदि मात्र आहार – विहार की अनियमितता को ही रोगोत्पत्ति का कारण मान लिया जाय तो आनुवांशिक रोग, महामारी जानी रोग एवं आकस्मिक रोगों की उत्पत्ति के कारणों की भाँती एवं सटीक व्याख्या नहीं की जा सकती है। इस सतही में कैन न कहीं खींचतान या जोड़- तोड़ करना पडेगा। यहीं कारण है कि आयुर्वेद शास्त्र ने भी रोगोत्पत्ति के कारणों का विचार करते हुए अंत में निष्कर्ष के रूप में बताया कि –‘ कभी पूर्वार्जित कर्मों के प्रभाव से कभी कभी दोषों के प्रकोप से और कभी – कभी इन दोनों के मिले – जुले असर से शारीरिक एवं मानशिक रोग होते हैं। ज्योतिषशास्त्र की मान्यतानुसार प्रत्येक छोटा-बड़ा रोग पूर्वार्जित कर्मों के फल स्वरुप उत्पन्न होता है और जन्मकाल , प्रश्न काल एवं गौचर में प्रतिकूल ग्रहों के द्वारा उसकी जानकारी की जा सकती है। इस सिद्धांत के अनुसार वह किसी भी व्यक्ति की जन्मकुंडली के आधार पर वर्षों पहले यह बता सकते हैं, कि उस व्यक्ति को कब कोण सा रोग उत्पन्न होगा ? और उसका परिणाम क्या रहेगा ?

2.6 ज्योतिषशास्त्र और आयुर्वेद की चिकित्सा पद्दति

आयुर्वेद ने जिन रोगों को कर्मजन्य मानकर असाध्य कह दिया और ऐसे रोगों के निदान एवं चिकित्सा पर पर्याप्त प्रकाश नहीं डाला – उन कर्मजन्य रोगों के होने की सम्भावना , उनके प्रारम्भ तथा समाप्ति का काल और उनके शमन { चिकित्सा } की विधियों का ज्योतिष शास्त्र में विस्तार से विचार किया गया है ।ज्योतिषशास्त्र यह बताने में समर्थ है , कि किसी व्यक्ति को पूर्वार्जित अशुभ कर्मों के प्रभाववश किस समय कोन- सा रोग होगा और उसका परिणाम क्या निकलेगा। जिस प्रकार दोष { कफ, वात एवं पित्त } जानी रोगों का आयुर्वेद में विस्तार पूर्वक वर्णन एवम विवेचन किया गया है, उसी कर्मजन्य व्याधियों {रोग } का सांगोपांग विवेचन इस शास्त्र में किया गया है। आयुर्वेद में स्वास्थ्य – रक्षणार्थ औषधि संचय , औषधि निर्माण एवं शल्य क्रिया में काल्जन्य विशेषताओं को अतीव उपयोगी मान् गया है। काल आयुर्वेद में स्वास्थ्य – रक्षणार्थ औषधि संचय , औषधि निर्माण एवं शल्य क्रिया में काल्जन्य विशेषताओं को अतीव उपयोगी माना गया है ।काल के अति योग अयोग या मिथ्या योग से रोग उत्पन्न होते हैं। अविकृत ऋतू में औषधि का संचय एवं निर्माण करने से वह विशेष गुणकारी होती है और वह ऋतू की विकृति से उत्पन्न रोगों का शमन कर देती है।[६ सू. सं. १/४२] आयुर्वेद का तो यहाँ तक कहना है –कि काल की विशेषताएं अपने स्वभाव से ही दोषों का संचय प्रकोप शमन एवं

प्रतीकार का देती है । अत: योग्य चिकित्सक को कालकृत का संचय , प्रकोप शमन एवं प्रतीकार कर देती है । अत: योग्य चिकित्सक को कालकृत विशेषताओं को ध्यान में रखकर चिकित्सा करनी चाहिए । किन्तु काल का ज्ञान ज्योतिष शास्त्र द्वारा होता है । चिकित्सा के लिए परमोपयोगी दिन ,रात , संध्या , नक्षत्र , पक्ष , मॉस ,ऋतू , एवं पर्व आदि की जानकारी इस शास्त्र द्वारा ही दी जाती है । अत: ज्योतिष के ज्ञान के विना न तो यथा समय औषधि संचय या औषधि निर्माण ही सम्भव है और न ही शल्य क्रिया या चिमित्सा की जा सकती है । अत: जो चिकित्सक आवश्यक ज्योतिष – नियमों की जानकारी रखते हैं वे चिकित्सा में अधिक सफलता प्राप्त करते हैं ।

वास्तु: आयुर्वेद ज्योतिष का चचेरा भाई है । ज्योतिष के द्वारा रोगी की चर्या , चेष्टा , आकृति सर्वांड लक्षण , शकुन एवं उसकी कुंडली के योगों के माध्यम से रोगों का अध्ययन कर यह जाना जा सकता है, कि इस रोग की समयावधि कितनी होगी ? क्या यह साध्य है या, असाध्य यदि यह साध्य है, तो कितने समय में ठीक होगा ? रोगी को चिकित्सा करने वाले चिकित्सक के परामर्श और उसे दी जानी वाली दवाई से लाभ होगा या नहीं ? इत्यादि । ये कुछ ऐसे महतवपूर्ण प्रश्न है , जिनका ठीक तरह से समाधान आयुर्वेद या अन्य चिकित्सा शास्त्रों से नहीं किया जा सकता । किन्तु ज्योतिष शास्त्र में इन सब बातों का विस्तार पूर्वक विवेचन किया गया है । इसलिए प्राचीन काल में ज्योतिष के ज्ञान की चिकित्सा में अत्यन्त उपयोगिता को ध्यान में रखकर " ज्योतिर्वैद्यो निरंतरो" की कहावत प्रचलित हुई होगी । इस विषय में एक अन्य महत्वपूर्ण बात यह है – कि सामान्य व्यक्ति भी इस शास्त्र के सम्यक ज्ञान से अनेक रोगों से बच सकता है । इस विषय में एक अन्य महत्वपूर्ण बात यह है – कि सामान्य व्यक्ति भी इस शास्त्र के सम्यक ज्ञान से अनेक रोगों से बच सकता है । क्यूंकि अधिकांश रोग सूर्य एवं चंद्रमा आदि के प्रभाव वश उत्पन्न होते हैं । जिस प्रकार चन्द्रमा अपनी गति स्थिति एवं कलाओं के ह्रास बृद्धि द्वारा समुद्र के जल में उथल पुथल मचा देता है , उसी प्रकार यह मनुष्य के शरीर की रक्त – संचार प्रणाली , उसके स्नायु – मण्डल , एवं मन में उथल- पुथल पैदा कर निर्बल मनुष्य को रोगी बना देता है । इसलिए ज्योतिष द्वारा चन्द्रमा के तत्वों और उसके प्रभाव वाले पदार्थों को जानकार अष्टमी , अमावस्या एवं पूर्णिमा को वैसे पदार्थों के सेवन पर आत्मनियंत्रण रखकर मनुष्य स्वयम को रोगों के प्रकोप से बचा सकता है ।

काल विज्ञान, कर्मफल ज्ञान, उत्पात ज्ञान , शकुन विद्या , सामुद्रिक शास्त्र, सर्वांग – लक्षण , आयुर्विज्ञान एवं मुहूर्तज्ञान आदि येचार्य चरक एवं सब ज्योतिष शास्त्र की आयुर्वेद को दें है , जिनका भारतीय चिकित्सा पद्धति में पग – पग पर उपयोग किया जाता है । आचार्य चरक एवं सुश्रुत संहिताएँ इसके जीवन्त साक्ष्य हैं ।

2.7 ज्योतिष तथा आयुर्वेद का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध

प्राचीन काल में वैद्यजन ज्योतिषशास्त्र का तथा दैवज्ञ जन आयुर्वेदशास्त्र का अध्ययन करते थे । आचार्य सुश्रुत तथा अग्निवेश दोनों ने ही वैद्य को बहुश्रुत होना चाहिए ऐसा कहा है । बहुश्रुत का अर्थ है अनेक शास्त्रों { विषयों } का जानकार होना । दक्षिण भारत में विशेषकर केरल प्रदेश ज्योतिष और आयुर्वेद के गढ़ रहे हैं । यही कारण है कि फलित के गूढ़ रहस्यों का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ केरलीय विद्द्वानों द्वारा लिखे गए हैं । केरल क पंचकर्म चिकत्सा कि तो भारतवर्ष में सर्वत्र धाक है ।

रोग के निर्णय एवं उसके उपचार के विषय में ज्योतिष और आयुर्वेद एक दूसरे के पूरक शास्त्र हैं। इसीलिए कि ज्योतिष ग्रह, भाव, राशि के आधार पर गुण धर्मो का निरूपण करता है। तथा आयुर्वेद मनुष्य की चर्या, त्रिदोष (वात-पित-कफ) आहार विहार के आधार पर रोग के गुण धर्मो का निर्णय कर उपचार करता है।

उपरोक्त चर्चा से स्पष्ट होता है , कि दोनों शास्त्रों में अन्योन्य सम्बन्ध है। व्याधि विचार के संदर्भ में दोनों शास्त्र एक दूसरे के पूरक हैं। जहाँ ज्योतिष शास्त्र ग्रह राशि भाव से बनने वाले योगों से पूर्वानुमान के साथ ये बताने में समर्थ है कि अमुक जातक को कब किस काल खण्ड में कोण सी व्याधि किस अंग विभाग में होगी तथा उसकी साध्यासाध्यता कैसे होगी तथा कर्मजन्य, दोषजन्य, साध्य, असाध्य कारणों का पूर्व ज्ञान कर सकता है उसी बात की पुष्टि आयुर्वेद शास्त्र भी दोषजन्य, कर्मजन्य व्याधियों के रूप में करता है

2.8 बोधात्मक प्रश्न

1. हमारे शरीर एवं मन में उत्पन्न होने वाले विकार, जिनसे हमें किसी भी प्रकार का दुःख मिलता है, उसे क्या कहा जाता है।

क.दु:ख

ख.रोग

ग.क्रोध

घ. कोई नहीं

2. भारत के ऋषियों ने ग्रहों के प्रभाव एवं परिणामों को जानने की सम्भवत: कितनी विधियां बताई।

क.दो बिधि

ख.तीन विधि

ग. चार विधि

घ.एक विधि

3.आयुर्वेद शास्त्र का ज्ञान सर्वप्रथम व्रह्म देव ने किस को दिया

क. प्रजापति

ख.इन्द्र

ग.भारद्वाज

घ.अग्निवेश और चरक

4.चरक संहिता किसका ग्रन्थ है

क.आयुर्वेद

ख.ज्योतिष

ग.दर्शन

घ कोई नहीं

2.9 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने जाना कि ज्योतिषशास्त्र में किस प्रकार रोगों से सम्बन्धित विषयों का प्रतिपादन किया जाता है। साथ ही आयुर्वेद के साथ ज्योतिषशास्त्र का रोग निर्णय व रोगों की चिकित्सा में तादात्म्य सम्बन्ध कैसा है, उससे परिचित हुए, तथा आयुर्वेद के स्वरुप

एवं उद्भव का बोध किया। इन सब सिद्धांतों का ज्ञान निश्चित ही चिकित्सा ज्योतिष के अध्ययन में सहायक सिद्ध होगा।

2.10 बोधात्मक प्रश्नों के उत्तर

1. ख.रोग 2. क.दो बिधि 3. क. प्रजापति 4. क.आयुर्वेद

2.11 संदर्भ ग्रन्थ सूची/सहायक पाठ्यसामग्री

1. मेडिकल एस्ट्रोलोजी मूल संकल्पना एवं सिद्धांत, प्रो.शुकदेव चतुर्वेदी।
2. चरक संहिता सूत्र स्थान / सुश्रुत संहिता।
3. प्रश्नमार्ग / माधव निदान।
4. गदावाली / ज्योतिष शास्त्र में रोग विचार, प्रो.शुकदेव चतुर्वेदी।

2.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. ज्योतिष शास्त्र की प्रविधियों का परिचय दीजिए।
2. आयुर्वेदशास्त्र का स्वरुप व प्रयोजन के विषय में लिखिए।
3. ज्योतिष व आयुर्वेद शास्त्र का परस्पर सम्बन्ध को बताएं।

इकाई-3 ज्योतिष में रोगोत्पत्ति के सिद्धान्त एवं उपचार

इकाई की संरचना

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 विषय परिचय
3.4 रोगों के कारण व भेद
3.5 रोगों का वर्गीकरण
3.6 सारांश
3.7 पारिभाषिक शब्दावली
3.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची
3.10 सहायक पाठ्य सामग्री
1.11 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई (CCIKS-25) में प्रमाण पत्र पाठ्यक्रम के तृतीय प्रश्न पत्र चिकित्सा विज्ञान नामक चतुर्थ खण्ड की चतुर्थ इकाई है। जिसका शीर्षक **"ज्योतिष में रोगोत्पत्ति के सिद्धान्त एवं उपचार"** है इससे पूर्व की इकाईयों में आप ने ग्रह के रोगकारक व रोगों को जानने की विविध प्रविधियों के बारे में जाना, तथा संक्षिप्त रूप से ये भी जाना कि, कैसे ग्रह रोगों की सूचना देते हैं तथा उनका प्रभाव जीव-जगत पर कैसे पड़ता है, आदि विषयों के बारे में विस्तृत रूप से जाना। अब इसी क्रम में हम ये जानेंगे कि रोग क्या है और शास्त्र में किस प्रकार से इसके विषय में बताया गया है, इन सब विषयों को हम इस इकाई के अन्तर्गत सम्यक रूप से अध्ययन करेंगे । साथ ही इसके शास्त्रीय सैद्धांतिक पक्ष और प्रायोगिक पक्षों को भी समझने का प्रयत्न करेंगे ।

3.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप–

- ज्योतिषशास्त्र के सामान्य परिचय प्राप्त करेंगे ।
- ज्योतिष में रोग के मुख्य आयामों से परिचित होंगे ।
- साथ ही शास्त्र में रोग ज्ञान के मुख्य सूत्रों से भी अवगत होंगे ।
- ये जानने का भी प्रयत्न करेंगे कि रोग क्या हैकैसे उत्पन्न होते हैं । ,
- साथ ही विषय वस्तु के प्रायोगिक पक्ष से भी परिचित हो सकेंगे ।

3.3 विषय परिचय

मानव के शरीर व मन में होने वाले विकार जिनसे दुःख मिलता है, उसे रोग कहते हैं, इसको अनेकों नामों से जानाजाता है, जैसे –रोग:, रुजा, बीमारी, मनोव्यथा व्याधि, आधि एवं 'रूग–रुज–चोपतापरोगव्याधिगदामया:' । अमर कोष २/६/११ व्याधि शव्द वस्तुत: रोग का ही पर्याय है । आचार्य अमरसिंह ने अमरकोश में आधि–व्याधि दोनों शव्दों को अलग–अलग रूप से परिभाषित किया है, वही बात चरक संहिता में भी आचार्य चरक कहते हैं कि आधि–मानसी व्यथा है, आमय, गद् आतंक, यक्ष्मा ज्वर, ताप, विकार, ये सब रोग के पर्याय शव्द हैं– अतव्याधिरामयोरगद आतंको यक्ष्मा ज्वरो विकारों रोग:। (च.सं.निदान.१/५) सामान्य रूप से यदि कहें तो–जिससे विविध दुःख मिलते हो उसे व्याधि कहते हैं । (सु.सं.१/२३) अंग्रेजी भाषा में व्याधि को Disease (डिसीज) के रूप में परिभाषित है । यहाँ Disease शव्द में Dis शब्द का अर्थ व्यवधान , भंग से है, तथा Ease शब्द का प्राकृतिक कर्म से तात्पर्य है, अर्थात् प्राकृतिक कर्म में व्यवधान ही व्याधि है, प्राकृतिक कर्म से तात्पर्य है कि यदि कोई स्वस्थ व्यक्ति अस्वस्थ होता है, या स्वस्थता में कोई व्यवधान होता है तो वह , व्यवधान ही व्याधि है । अब बात करें की पूर्व में आधि शब्द आया उसका तात्पर्य है –मानसिक तनाव , मानसिक अस्वस्थता , मन की पीड़ा,प्रत्याशा , बन्धन, भय इत्यादि । इसी क्रम में आमय शव्द है– इसका

तात्पर्य भी मनोव्यथा ,बीमारी है। हमारे संस्कृत वांग्मय साहित्य में भी कुछ इस प्रकार की चर्चा आती है- रघुवंश महाकाव्य(१९/४८) में प्रसंग आता है– **"आमयस्तु रतिरागसम्भव:"।** इसी प्रकार अभिज्ञान शाकुन्तलम नाटक (३/११) में भी **"मनोगतामाधिहेतुम"** कहा गया है। अब प्रश्न आता है किस को रोग हो सकते हैं तो नीती शतक(३/३५) में आचार्य भर्तृहरि कहतें हैं - **"भोगे रोग भयम्"** आर्थात अति भोग से भी रोग उत्पन्न होते हैं , इसलिए; कहते हैं कि अति सर्वत्र वर्जयेत।

3.4 रोगों के कारण व भेद

असात्मइन्द्रिय संयोग, प्रज्ञापराध, परिपाक ये तीन प्रमुख रोगों के कारण आचार्य चरक ने माने हैं। प्रत्येक इन्द्रिय का अपने विषयों के साथ हीन, अधिक एवं मिथ्या संयोग असात्मइन्द्रियार्थ संयोग कहा जाता है। जैसे – आँखों से बिलकुल न देखना 'हीनयोग" अधिक देखते रहना ,"योग" एवं सूर्यको अधिक प्रकाश में देखना तथा अल्प प्रकाश में पढ़ना मिथ्या योग है। इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय का जानना चाहिए। प्रज्ञापराध कहते हैं ,धी.धृति ,स्मृति, का सम्यक कार्य न करना। परिपाक का अर्थ है , पूर्वजन्म में जो हमने असत (अशुभ) कार्य किये हैं उनके अशुभ परिणामों {फलों} को भोगने हेतु वर्तमान जन्म में रोगों से युक्त होना। चरक ने शारीरिक, मानसिक एवं आगुन्तक रोग भूत (ग्रह) विष , दूषितवायु , अभिघातज , शस्त्र प्रहार आदि से उत्पन्न होते हैं। (च.सू.११) इसी क्रम में कायचिकित्सा ,स्त्री रोग, बाल रोग ,शल्य चिकित्सा एवं वाजीकरण (संतानप्राप्त) ये आठ अंग चरक ने चिकित्सा के लिए माने हैं। च.सू.३०/२८) मानव के जीवन में घटित होने वाली घटनाओं सुख-दुःख, उन्नति-अवनति, लाभ-हानि, रोग–शोक आदि में पूर्वजन्म–जन्म जन्मान्तरों के कर्मों का अवश्यमेव प्रभाव पड़ता है, क्योंकि – **"अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्"।** ज्योतिषशास्त्र शुभाशुभ कर्मों के परिपाक का अध्ययन कर मनुष्य को सचेत करता है। जैसे कि आचार्य वाराहमिहिर ने कहा है – **"यदुपचितमन्यजन्मनि शुभाशुभं तस्य कर्मण: पंक्तिम्"। व्यन्जयति शास्त्रमेतत त्तमसि द्रव्याणि दीप इव ।।** (लघु जातक १/२) मानव के अशुभ कर्मों के आधार पर होने वाले आकस्मिक दुर्घटनाओं ,शारीरिक ,दुर्बलता एवं रोगों का विश्लेषण ज्योतिष शास्त्र करता है। क्योंकि – **जन्मान्तरकृतं पापं व्याधिरूपेण बाधते।** केवल आहार-विहार की अनियमितता ही रोगोत्पत्ति का कारण नहीं अपितुपूर्वार्जित कर्म भी साध्यासाध्यता रोगों की उत्पत्ति के कारण है – **"कर्मप्रकारेण कदाचिदेकेदोषप्रकोपेण भवन्ति चान्ये। तथापरे प्राणीषू कर्मदोषप्रकोपजा: कायमनोविकारा:"** ।। इस प्रकार कर्म सिद्धांत को ध्यान में रखते हुए जन्मकुंडली के आधार पर रोगोत्पति के कारण ,लक्षण व निवारण का विश्लेषण करके मानव के दुःखविघातक व पुरुषार्थ साधक बनने में ज्योतिषशास्त्र महत्वपूर्ण भोमिका निभाता है।

3.5 रोगों का वर्गीकरण

रोगों की भली-भान्ति विचार करने से पूर्व उनके भेद-उपभेदों को जानने के लिए उनका वर्गीकरण करना आवश्यक है । फलित शास्त्र के आचार्यों ने रोगों को दो प्रकार का माना है ।**1.सहज 2. आगुन्तक ।**

सहज का अर्थ है– जन्म के साथ । अर्थात जन्मजात रोगों को सहज –रोग कहते हैं । और जन्म के बाद जीवन में पैदा होने वाले रोग आगुन्तक रोग कहलाते हैं । सहज –रोगों के दो भेद होते हैं - १.शारीरिक तथा २.मानसिक । जन्म से ही लूलापन , लंगड़ापन, कुबडापन, अंधत्व, काणत्व, मूकता, बधिरता, नपुंसकत्व, हीनांग ,अधिकांग एवं विकलांग आदि को सहज (जन्मजात) शारीरिक –रोग कहते हैं । और जन्म से ही जड़ता, सनक,पागलपन एवं मानसिकता – पिछड़ापन आदि सहज–मानसिक रोग कहलाते हैं ।

जन्म के बाद जीवन में पैदा होने वाले आगुन्तक – रोग भी दो प्रकार के होते हैं -1.दृष्टि निमितिजन्य एवं , 2. अदृष्टनिमितजन्य । जिन रोगों का निमित (कारण) साफ-साफ दिखाई देता है ,उन रोगों को दृष्टि निमितजन्य कहते हैं । उदाहरणार्थ–शाप, अभिचार, घात, संसर्ग, महामारी एवं दुर्घटना आदि प्रत्यक्ष कारणों से उत्पन्न रोगों को दृष्टिनिमितजन्य रोग कहा जता है । जिन रोगों का कारण प्रत्यक्ष–घटना न होकर बाधक ग्रह हो, उन रोगों को अदृष्ट – निमितजन्य रोग कहते हैं । अदृष्ट का अर्थ देव है , जो पूर्वार्जित कर्मों का परिणाम होता है । इसके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले रोगों को अदृष्टनिमितजन्य रोग भी शरीरिक एवं मानसिक भेदों से दो प्रकार के होते हैं ।

रोग = (२) आगन्तुक, सहज

सहज = शारीरिक , मानसिक

आगन्तुक = दृष्टि निमितिजन्य , अदृष्ट निमितजन्य

दृष्टि निमितिजन्य = शारीरिक , मानसिक

अदृष्टनिमितजन्य= शारीरिक , मानसिक

अभ्यास प्रश्न

१. मुख्यत: रोग कितने प्रकार के होते हैं ?

२. जन्म के बाद जीवन में पैदा होने वाले आगुन्तक रोग कितने प्रकार के होते हैं ?

३. मीन , वृश्चिक ,मेष, कर्क, या मकर राशि में पाप ग्रह के साथ शनि एवं चन्द्रमा हो,तो कोन सा रोग होता है ?

४. यह कोन सा व्याधि योग है - लग्न में सूर्य 12वें चन्द्रमा एवं त्रिकोण में मंगल हो ।

3.6 सारांश

इस इकाई के अन्तर्गत आप ने अध्ययन किया कि– रोग क्या हैं , कैसे उत्पन्न होते हैं रोगों के कितने प्रकार होते हैं, साथ ही ज्योतिष में रोगों का वर्गीकरण कैसे किया जाता है । कोन से ग्रह कब व किस स्थिति में रोग कारक होते हैं, रोग परिचय में राशियों की भी उतनी ही भूमिका होती है जितनी कि ग्रहों की। साथ ही जन्मजात रोग और आगन्तुक रोगों के बारे में

जाना, इसी क्रम में दृष्टि निमतजन्य एवं अदृष्ट निमित जन्य सभी बिषयों का विस्तार पूर्वक अध्ययन किया। आशा है कि -इस इकाई के अध्ययन से आप रोगों के परिचय का बोध कर सकेंगे तथा आगे की इकाईयों के अध्ययन में सहायता मिल सकेगी।

3.7 पारिभाषिक शब्दावली

पक्षाघात–स्नायुविकार के कारण उत्पन्न होने वाला रोग, जिसमें शरीर का अंगविशेष निष्क्रिय हो जाता है।

योग -ज्योतिषीय ग्रहस्थिति, ग्रहों के स्थान दृष्टि -युति सम्बन्ध के कारण बनने वाला योगविशेष ।

अस्तंगत–सूर्य के साथ ग्रह के स्थित होने पर उसमें बलहीनता का आना।

रोगेश-षष्ठ भाव का स्वामी।

ग्रहयुति-दो या तीन ग्रहों का एक ही भाव में होना।

3.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

१. दो

२.दो

३.पंगुता

४.मानसिक

3.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. ज्योतिषशास्त्र में रोग विचार ,डॉ ,शुकदेव चतुर्वेदी.मोतीलालबनारसीदास
2. बृहज्जातक,मोतीलालबनारसीदास ,उत्पलटीका ,
3. फलदीपिकामोतीलालबनारसीदास ,गोपेशकुमारओझा.पं ,
4. लघुजातकवाराणसी ,चौखम्बा सुरभरती प्रकाशन ,भारती टीका-भट्टोत्पल ,
5. ज्योतिष और रोग एल्फ़ा पब्लिकेशन रोशनपुर दिल्ली ,श्री कृष्ण कुमार ,
6. वीरसिंहावलोक ,:पं श्री रामकृष्ण पराशर ,:चौखम्बा कृष्णदास अकादमी वाराणसी ,

3.10 सहायक पाठ्य सामग्री

1. अमरकोषःवाराणसी ,चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान ,अमरसिहं ,
2. बृहत्पाराशरवाराणसी ,चौखम्बाप्रकाशन ,देव चन्द्र झा .पं .सं ,होराशास्त्रम्-
3. ज्योतिष शास्त्र में रोग विचार ,शुकदेव चतुर्वेदी.डॉ,मोतीलालबनारसीदास
4. ज्योतिष और रोग एल्फ़ा पब्लिकेशन रोशनपुर दिल्ली ,श्री कृष्ण कुमार ,
5. जातकालंकारवाराणसी ,चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन ,सत्येनद्रमिश्र .डॉ.सं ,
6. जातकपारिजातवाराणासी ,चौखंबा संस्कृत संस्थान ,श्रीवैद्यनाथविरचित ,
7. भुवनदीपक ,सत्येन्द्रमिश्र .डॉ ,चौखम्बा सुरभारती प्रकाशनवाराणसी ,
8. लघुजातकवाराणसी ,चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन ,भारती टीका-भट्टोत्पल ,

9. वीरसिंहावलोक ,:पं श्री रामकृष्ण पराशर ,:चौखम्बा कृष्णदास अकादमीवाराणसी ,

3.11 निबन्धात्मक प्रश्न

१.रोग से क्या तात्पर्य है ? विस्तृत रूप से विवेचन कीजिये।

२. सहज और आगन्तुक रोग कोन – कोन से होते हैं।

३. जन्मजात रोगों के भेदों को सविस्तार पूर्वक लिखिए

४. "पूर्वजन्म कृतं पापं व्याधिरूपेण जायते" इस सूक्ति की व्याख्या कीजिये।

इकाई-4 आयुर्वेदीय दृष्टि में रोग विचार

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 आयुर्वेदीय दृष्टि में रोग
4.1 रोगों के मुख्य कारण
4.2 आयुर्वेद एवं ज्योतिषी दृष्टि में रोग विचार
4.3 रोगों के प्रमुख सिद्धान्त
4.4 रोगोत्पत्ति का समयादि परिज्ञान
4.5 सारांश
4.6 बोध प्रश्न
4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
4.8 बोध प्रश्नों के उत्तर
4.9 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

भारतीय ज्ञान परम्परा में प्रमाण-पत्र कार्यक्रम के तृतीय प्रश्न पत्र चिकित्सा विज्ञान नामक पाठ्यक्रम के चतुर्थ खण्ड (चिकित्सा एवं ज्योतिष) से सम्बन्धित यह चतुर्थ इकाई है। इसके पूर्व की इकाईयों में आपने चिकित्सा ज्योतिष का परिचय, चिकित्सा के भेद, ज्योतिष एवं आयुर्वेद के सम्बन्ध से सम्बन्धित तथ्यों का अध्ययन किया है। प्रस्तुत इकाई में आयुर्वेदीय दृष्टि में रोग पर प्रकाश डाला गया है।

मानव मन में उत्पन्न होने वाले समस्त भाव विकार व उनसे होने वाले कष्ट एवं अनुभूति को ही रोग कहते हैं। इन रोगों की उत्पत्ति के क्या कारण हैं, उनके लक्षण, भेद, एवं चिकित्सा विधि में ज्योतिष और आयुर्वेद में कितनी समानता है ? इस इकाई के अध्ययन से आप बता सकेंगे साथ ही इन सब विषयों पर हम विस्तार से विश्लेषण कर सकेंगे।

4.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन करने के पश्चात् आप—

- रोग किसे कहते हैं, यह जान सकेंगे।
- रोगों के उत्पन्न होने का मुख्य कारण क्या है, इस विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- आयुर्वेद एवं ज्योतिषी का क्या सम्बन्ध है, इस विषय को जान सकेंगे।
- रोगों के प्रमुख सिद्धान्तों के बारे में जान सकेंगे।
- रोगों के की उत्पत्ति का समय एवं उपचार के सम्बन्ध जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

4.3 आयुर्वेदीय दृष्टि में रोग

4.1 रोगों के मुख्य कारण

'कर्मजाव्याधय: केचिद् दोषजा: सन्ति चापरे'— आयुर्वेद के मतानुसार कर्म एवं दोषप्रकोप को रोगों की उत्पत्ति का मूल कारण बताया गया है। प्रायः अव्यवस्थित आहार एवं विहार से रोगों का जन्म होता है। भारतीय संस्कृति में ऋतुओं का बड़ा महत्व है। आयुर्वेद एवं ऋतु का भी अपने आप में विशेष महत्व है। मनुष्य जब ऋतु के अनुरूप अपनी दिनचर्या को करता है, तो रोगजन्य कष्ट की सम्भावना न्यून हो जाती है। फिर भी यदि रोग हो जाए तो उस रोग को कर्म जन्य रोग माना जाता है।

आयुर्वेदशास्त्र में जो कर्म जन्य रोगों के कारण कर्म माना गया है। वह संचित कर्म ही है जो व्यक्ति का प्रारब्ध भी है। तथा गलत आहार-विहार आदि क्रियमाण कर्म है। इसी कारण ज्योतिषशास्त्र के आचार्यों ने मनुष्य के पूर्व अर्जित कर्म तथा जन्मान्तर

में विहित पाप को रोग का कारण माना है। कहा भी गया है— **'जन्मान्तरकृतं पापं व्याधिरूपेण ज्ञायते'।**

शातातपीय तन्त्र में कहा गया है कि पूर्वजन्म में किया गया पाप कर्म ही इस जन्म में विभिन्न रोगों के रूप में उत्पन्न होता है।–

पूर्वजन्मकृतं पापं नरकस्य परिक्षये।
बाधते व्याधिरूपेण तस्य कृच्छादिभि: शम:।।
कुष्ठञ्च राजयक्ष्मा च प्रमेहो ग्रहणी तथा।
मूत्रकृच्छाश्मरीकासा अतिसारभगन्दरौ।।

आचार्य सुश्रुत ने तो कुष्ठ रोग को कर्म जन्म व्याधि का मुख्य उदाहरण माना है। यथा—**ब्रह्मस्त्रीसज्जनवधपरस्वहरणादिभि:।**
कर्मभि: पापरोगस्य प्राहु: कुष्ठस्य सम्भवम्।।

अर्थात् ब्राह्मण, स्त्री, एवं सज्जन पुरुषों की हत्या तथा दूसरों के धन का अपहरण करने जैसे पाप कर्म करने से कुष्ठ रोग होता है।

त्रिशठाचार्य का मत है कि उदररोग, गुदारोग, उन्माद, अपस्मार, पंगुता, कर्णरोग, वाग्दोष, प्रमेह, भगन्दर, प्रदर, वायु विकार, कुष्ट, अन्धता, मुखरोग, नासारोग, अर्श, विपची, व्रण, बाल्मीक, विपर्ष, देहकम्प, पक्षाघात, गलगण्ड, नपुंसकता, रक्तदोष तथा दन्त रोग आदि समस्त रोग गुरुपत्नीगमन, दूसरे के धन का अपहरण एवं ब्रह्महत्या जैसे दुष्कर्म के प्रभाव उत्पन्न होते हैं। यथा—

जठरगुदजोन्मादापस्मृत्यसृगुत्सृतिपंगुता-
श्रुतिविकलतावाग्वैकल्यप्रमेहभगन्दरा:।।
प्रदरपवनव्याधिश्चित्रक्षयक्षणदान्धता,
तिमिरवदनघ्राणशर्णांसि श्वयथुविपचीग्रणा।।
वल्मीककाकिणिकशंखकपुडरीक-रक्तार्बुदव्रणविसर्पवपु: प्रकम्पा:।
पक्षाभिघातनलगंडगलग्राहश्म, दंडापमानकसमीरणशाकणिताद्या:।।
दन्तामया: स्युरपरद्रविणापहारगुर्वङ्गनागमनविप्रवधादिभिर्ये।
दुष्कर्म भिस्तनुभृतामिह कर्मजास्ते,नोपक्रमेण भिषजामुपयान्ति सिद्धिम्।।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि मनुष्य का इस जन्म तथा जन्मान्तर में किया गया अशुभ कर्म ही रोगोत्पत्ति का मुख्य कारण है। ज्योतिषशास्त्र में कर्मजनित व्याधियों का मुख्य कारण उन्माद को माना गया है, इसके कारण, भेद, लक्षण एवं चिकित्सा का यहां विवेचन किया जा रहा है।

उन्माद का मुख्य कारण—

हर्षेच्छामयशोकादेर्विरूद्धाशुचिभोजनात्।
गुरूदेवादिकोपाच्च पंचोन्मादा भवन्त्यथ।।

जब हर्ष, इच्छा, भय एवं शोक की प्रबलता से, विरूद्ध एवं अपवित्र भोजन से तथा गुरु देवता आदि के कोप से उन्माद होता है। आचार्य चरक ने भी उन्माद रोग के यही कारण बताए हैं—

विरूद्धदुष्टाशुचिभोजनानि प्रधर्षणं देवगुरूद्विजानाम्।
उन्मादहेतुर्भयहर्षपूर्वा मनोऽभिधातो विषमाश्च चेष्टा:।।

उन्माद के मुख्य भेद—

प्रश्नमार्ग में उन्माद के पांच भेद बतलाये गये हैं— **'त्रिदोषजा: सन्निपाता: आगन्तव इति स्मृता'।**

1.वातजन्य
2. पित्तजन्य
3. कफजन्य
4. सन्निपातजन्य
5. आगन्तुक जन्य

उन्मादों के लक्षण—

प्रश्नमार्ग कार कहते हैं कि हंसना, चिल्लाना, रोना, विलखना, गाना, नाचना, एक जगह पर ना रुकना, हाथ-पैर आदि अंगों को फेंकना पटकना, शरीर का लाल रंग होना, कमजोरी होना, कमजोर होने पर भी बल होना तथा अधिक बड़बड़ाना यह सब वातजन्य उन्माद के लक्षण है। आचार्य चरक ने वातजन्य उन्माद के ये हीं लखण बताए हैं।–

अवस्थानहासस्मृतिनृत्यगीतवागड्गविक्षेपणरादनानि।
पारूष्य काश्र्यारूणवर्णताश्च जीर्णे बलं चानिलजस्य रूपम्।।

फलित ज्योतिष के ग्रंथों में पित्तजन्य उन्माद के लक्षण इस प्रकार बताए गए हैं। सारंभ(नेत्रों की लालिमा) अमर्ष (असहिष्णुता) विदग्धता, अभिद्रवण (दौडकर चलना) तर्जन (दूसरों को डराना धमकाना) छाया, शीतल वस्तु एवं शीतल जल की इच्छा तथा शरीर का पीला पड़ना ये पित्तजन्य उन्माद के लक्षण है। आचार्य चरक ने भी यही कहा है।–

ज्योतिष ग्रंथों में बताया गया है कि कफजन्य उन्माद रोगी को स्त्री तथा एकांत स्थान प्रिय होता है। उसे निद्रा अधिक आती है। और अरूचि रहती है। वह कम कम बोलता है, मुंह से लार बहती है, भोजन के बाद उन्माद का बैग बढ़ जाता है। तथा उसके नाखून सफेद पड़ जाते हैं।

नारीविविक्तप्रियता निद्रारोचौ मनाग्वच:।
लाला छर्दिर्बले भुक्तो नखादिषु च शुक्लता च।।

वात, पित्त, कफ जन्य उन्माद के जो पूर्व लक्षण बताए गए हैं वह सब सन्निपात जन्य उन्माद में भी दिखाई देते हैं। यह चिकित्सा की दृष्टि से वर्ज्य होता है।

क्योंकि इसमें एक दोष की चिकित्सा कराने से दूसरा दोष कुपित हो जाता है। अतः यह उन्माद असाध्य होने कारण वर्ज्य कहलाता है।

देवता राक्षस आदि के कोप से उत्पन्न उन्माद को आगंतुक उन्माद कहते हैं। आचार्य चरक का कहना है कि देवता आदि के कोप से उत्पन्न उन्माद जन्मांतर में किए गए अनुचित कर्मों के प्रभाववश यह उन्माद होता है।

उन्माद का उपचार–

उन्माद के उपचार के बारे में भी ज्योतिष एवं आयुर्वेद के दृष्टिकोण में पूरी तरह समानता है। फलित ज्योतिष के ग्रंथों में बताया गया है कि वातजन्य उन्माद में स्नेहपान, पित्तजन्य उन्माद में विरेचन, कफ जन्य उन्माद में नस्य एवं वमन तथा आगंतुक उन्माद में पूर्वोक्त समस्त क्रियाएं करनी चाहिए।

वातोन्मादे स्नेहपानं पित्तोन्मादे विरेचनम्।
श्लेष्मके नस्यवमनमागन्तुष्वखिला: क्रिया:।।

उक्त क्रियाओं के अलावा जातक ग्रंथों में सभी प्रकार के उन्माद की एक रामबाण औषधि बताई गई है, वह है कल्याण घृत। यद्यपि उन्माद को ठीक करने के लिए किस औषधि का किस मात्रा में किस प्रकार प्रयोग करना चाहिए यह आयुर्वेद शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। इसलिए ज्योतिष के ग्रंथों में रोगों की औषधियों की विस्तारपूर्वक चर्चा नहीं की गई है। फिर भी जातक ग्रंथों में विविध प्रसंगों में कुछ रोगों की रामबाण औषधि बताई गई है। आचार्य कल्याण बर्म कहते हैं कि जैसे कल्याण का सेवन उन्माद को नष्ट कर देता है, वैसे ही चंद्रमा से षष्ठ, सप्तम एवं अष्टम स्थान में स्थित शुभ ग्रह समस्त अरिष्टों के प्रभाव को नष्ट कर देता है। आचार्य चरक, सुश्रुत ने पांच प्रकार के उन्मादों के लिए कल्याणधृत एवं महाकल्याणधृत के सेवन को अत्यंत लाभदायक माना है। इस प्रकार फलित ज्योतिष के ग्रंथों में रोग विचार की, रोगों के कारण, लक्षण, भेद एवं उपचार विधि में पर्याप्त समानता पाई जाती है।

4.2 आयुर्वेद एवं ज्योतिषी दृष्टि में रोग विचार

भगवान धन्वन्तरी के कथनानुसार किसी भी रोगी मनुष्य की चिकित्सा करने से पूर्व उसकी आयु का परीक्षण करना आवश्यक है। क्योंकि आयु के रहते ही चिकित्सा के उपचार द्वारा उसे ठीक किया जा सकता है। ज्योतिषशास्त्र में भी रोग के विषय में जानने से पूर्व उसकी आयु पर विचार किया जाता है।–

आयु: पूर्वं परीक्षेत पश्चाल्लक्षणमादिशेत्।
अनायुषां तु मर्त्यानां लक्षणै: किं प्रयोजतम्।
आयुरेव विशेषेण प्रथमं चिन्त्यतेऽधुना
स्वस्थमुद्दिश्य वा प्रश्न एव वातुरमित्ययम्।।

आयुर्वेद ने जिन रोगों को कर्मजन्य मानकर असाध्य कह दिया तथा ऐसे रोगों के निदान एवं चिकित्सा विधि पर पर्याप्त प्रकाश नहीं डाला उन कर्म जन्य रोगों के होने की संभावना उसके प्रारंभ एवं समाप्ति के काल तथा उसकी चिकित्सा विधि का ज्योतिषशास्त्र में विस्तार से विचार किया गया है। ज्योतिषशास्त्र में यह बतलाने में समर्थ है कि किस व्यक्ति के पूर्व अर्जित शुभ कर्मों के प्रभाव किस समय में कौन सा रोग होगा तथा उसका क्या परिणाम निकलेगा। जिस प्रकार दोष जन्य व्याधियों का आयुर्वेदशास्त्र में विस्तार पूर्वक विचार किया गया है उसी प्रकार कर्मजन्य व्याधियों का ज्योतिषशास्त्र में सांगोपांग विवेचन किया गया है।

आयुर्वेदशास्त्र में स्वास्थ्य रक्षण, औषधि का सेवन, औषधि का निर्माण एवं शल्य क्रिया को विशेष रुप से बतला कर उसे उपयोगी माना गया है। काल के अतियोग, अयोग एवं मिथ्यायोग से रोग उत्पन्न होता है। अविकृत ऋतु में औषधि का संचय एवं निर्माण करने से ही वह गुणकारी होते है। तथा वह ऋतु विकृति के उत्पन्न रोगों को नष्ट कर देती है। दिन-रात सर्दी-गर्मी बरसात के प्रभाव को ध्यान में रखकर शल्यक्रिया की जाती है। आयुर्वेदशास्त्र में तो यहां तक कहा है कि काल की विशेषताएं अपने स्वभाव से ही दोषों का संचय, प्रकोप, प्रशमन एवं प्रतिकार कर देती है। अतः योग्य चिकित्सक को कॉलकृत आस्थाओं का ध्यान रखकर ही चिकित्सा करनी चाहिए किंतु काल का ज्ञान ज्योतिषशास्त्र द्वारा ही होता है। उपचार के लिए परम उपयोगी दिन-रात पक्ष, मास आदि की जानकारी ज्योतिषशास्त्र पर ही संभव है। अतः ज्योतिषशास्त्र ज्ञान के बिना न तो यथा समय औषधि संचय या औषधि निर्माण ही संभव है और ना ही शल्यिक्रिया या चिकित्सा ही की जा सकती है। अतः जो चिकित्सक आवश्यक ज्योतिष नियमों के ज्ञान पर औषध निर्माण या चिकित्सा करते हैं वही अधिक सफलता प्राप्त कर सकते हैं।

वस्तुत: आयुर्वेद ज्योतिषशास्त्र का चचेरा भाई है। ज्योतिषशास्त्र के ज्ञान के द्वारा औषधि की चर्चा, चेष्टा, आकृति सभी लक्षणों एवं उसकी कुंडली में रोगों की विविध योगों के अध्ययन कर यह जाना जा सकता है कि यह रोग की मर्यादा क्या होगी, यह रोग कब ठीक होगा, चिकित्सा करने वाले चिकित्सक के परामर्श एवं प्रचलित औषधियों द्वारा लाभ होगा या नहीं इत्यादि यह कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनका समाधान आयुर्वेद शास्त्र में नहीं किया गया है, किंतु ज्योतिष शास्त्र में इसका विस्तार पूर्वक शास्त्रीय विवेचन किया गया है। इसनिए प्राचीन काल में ज्योतिष शास्त्र के ज्ञान की चिकित्सा में परम उपयोगीता को ध्यान रखकर 'ज्योर्तिवैद्यौ निरन्तरौ' की कहावत प्रचलित है।

शास्त्रों के ज्ञान से एक सामान्य व्यक्ति भी अनेक प्रकार के रोगों से बच सकता है क्योंकि अधिकांश रोग सूर्य एवं चंद्रमा के विशेष प्रभाव से उत्पन्न होते हैं जिस प्रकार चंद्रमा अपनी गति स्थिति, कलाओं की ह्रास बृद्धि द्वारा समुद्र के जल में उथल

पुथल मचा डालता है। उसी प्रकार यह शरीर के रुधिर प्रवाह में स्नायुमंडल तथा मनोववृत्तियों में अपना प्रभाव डालकर निर्बल मनुष्यों को रोगी बना देता है। अतः ज्योतिष द्वारा चंद्रमा के तत्वों को जानकर अष्टमी, अमावस्या एवं पूर्णिमा को वैसे तत्व वाले पदार्थों के सेवन पर अनियंत्रण रखकर मनुष्य स्वयं को रोगों के आक्रमण से बचा सकता है। कालविज्ञान, कर्मफलज्ञान, और सर्वांगशरीरलक्षण एवं प्रत्येक कार्य को करने का उचित समय ये सब ज्योतिषशास्त्र की आयुर्वेद को ऐसी देन है जिसका भारतीय चिकित्सा पद्धति में पग- पग पर उपयोग किया जाता है।

4.3 रोगों के प्रमुख सिद्धान्त

भारतीय संस्कृति के अनुसार त्रिगुणत्मक प्रकृति के द्वारा निर्मित समस्त जगत् सत्व राज एवं तमोमय है। ज्योतिषशास्त्र में भी सूर्य आदि ग्रहों का इन तीनों गुणों में वर्गीकरण का प्रमुख योगदान रहता है। जिन ग्रहों में सत्व गुण अधिक रहता है। उनकी अमृतमय किरणे, जिन में रजोगुण अधिक रहता है उनकी उभय गुण मिश्रित किरणें, जिनमें तमोगुण अधिक रहता है उनकी बिषम किरणें एवं जिन में तीनों गुणों की अल्पता रहती है उनकी गुण हीन किरणें मानी गई है। ग्रहों के शुभ अशुभ का विभाजन भी इन किरणों के गुणों से ही हुआ है। आकाश में ग्रहों की गति एवं युति से रशियां परस्पर मिलती रहती हैं और एक दूसरे के गुणों को प्रभावित करती रहती हैं। रश्मिविश्लेषण का सिद्धांत बतलाता है कि प्रत्येक ग्रहों की राशियों में स्थान एवं काल विशेष पर उनके गुणों में ह्राय-वृद्धि होते रहती हैं, जिसे ज्योतिषशास्त्र की परिभाषा में स्थान बल, दिक् बल, काल बल एवं चेष्टा बल कहा गया है। अतः ग्रहों के शुभाशुभत्व का विचार करते समय उनके बलाबल का विचार भी परम आवश्यक माना गया है।

ग्रहों की सौम्या एवं क्रूर गति के प्रभाव से ही भूमंडल पर रहने वाले समस्त चराचर पर इनका प्रभाव रहता है। ग्रहों की गति एवं स्थिति की विलक्षणता के कारण यह प्रभाव समस्त पृथ्वी पर एक सा नहीं होता क्योंकि एक कालावच्छेदन दो विभिन्न देशों पर भिन्न-भिन्न ग्रहों के रश्मियां एक जैसी नहीं पड़ती विभिन्न देशों में सूर्य एवं चंद्रमा आदि ग्रहों के उदय अस्त की भिन्नता या देशांतर संस्कार को यहां साक्ष्य रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। अत: यह निष्कर्ष आनायास ही समझ में आ जाता है कि स्थान विशेष का ग्रह राशियों के वातावरण की अपनी निजी विशेषता के कारण वहां अत्पन्न जातक अन्य स्थान पर उसी क्षण जन्मे व्यक्ति की अपेक्षा भिन्न स्वभाव, भिन्न आकृति, विलक्षण आदि गुणों से युक्त होता है। उत्पत्ति के समय में जिन जिन रश्मि वाले ग्रहों की प्रधानता होती है जातक का स्वभाव एवं स्वास्थ्य आदि वैसा ही बन जाता है। ग्रह मानव के स्वास्थ्य पर अपना प्रभाव डालकर किन किन रोगों को उत्पन्न करते हैं। अब हम इस विषय की ओर चलेंगे।

रोगों का वर्गीकरण—

ज्योतिषशास्त्र के ग्रंथों में रोगों का गंभीरता पूर्वक विचार करने से पहले उनके भेदों का विचार किया गया है। ज्योतिषशास्त्र में रागों को दो प्रकार से माना गया है—

1. सहज

2. आगन्तुक

1. सहज— जन्मजात रोग को सहज रोग कहते हैं। सहज के दो भेद होते हैं— 1. शारीरिक 2. मानसिक रोग लूलापन, लंगड़ापन, अंधत्व, मूकत्व, बधिरत्व, नपुंसकता एवं अधिकांग आदि कुछ शारीरिक रोग जन्मजात होते हैं। जड़ता, उन्माद एवं पागलपन आदि कुछ मानसिक रोग भी जन्मजात होते हैं। इस प्रकार के समस्त जन्मजात रोगों को सहज रोग कहा जाता है।

2. आगन्तुक— जन्म के बाद होने वाले रोगों को आगंतुक लोग कहते हैं। आगंतुक रोग भी दो प्रकार के होते हैं— दृष्टनिमित्तजन्य एवं अदृष्टनिमित्तजन्य। शाप, अभिचार, घात, संसर्ग, महामारी एवं दुर्घटना आदि प्रत्यक्ष घटनाओं द्वारा उत्पन्न होने वाले रोगों को दृष्टनिमित्तजन्य रोग कहते हैं। तथा बाधक ग्रह योग के द्वारा उत्पन्न रोग अदृष्टनिमित्तजन्य रोग कहलाते हैं। इन रोगों का कारण पूर्वार्जित कर्म माना गया है। उक्त दृष्टनिमित्तजन्य एवं अदृष्टनिमित्तजन्य रोगों के भी शारीरिक एवं मानसिक यह दो भेद माने गए हैं।

ज्योतिषशास्त्र के अनुसार रोग विचार—

ज्योतिषशास्त्र के अनुसार रोग का विचार हम इस प्रकार करते हैं। षष्टम भाव, षष्टम भाव में स्थित ग्रह, द्वादश भाव एवं अष्टम भाव में स्थित ग्रह और इन भावों के स्वामी ग्रह रोगेश से युक्त या दृष्ट ग्रह एवं भाव से रोग का विचार किया जाता है। इसके अतिरिक्त पाप ग्रह से युक्त राशियों एवं भाव, नीच राशिगत ग्रह तथा निर्मल ग्रह, लग्न और लग्नेश ग्रह, अवरोही ग्रह, मारक ग्रह एवं बलारिष्ट कारक ग्रह भी रोगों के कारण माने गए हैं। इन ग्रहों के शुभ अशुभ एवं बलाबलत्व के आधार पर रोग का तथा रोगी की चर्या, प्रभाव और कालावधि का निर्धारण किया जाता है। ज्योतिषशास्त्र में ग्रहों को रोग कारक बनाने वाले निम्नलिखित हेतु बताए गए हैं—

1. लग्न में स्थिति या लग्नेश होना—

ज्योतिषशास्त्र में लग्न को शरीर रूप में माना गया है। अतः लग्न एवं लग्नेश पर पाप ग्रह का प्रभाव शरीर एवं स्वास्थ्य के लिए अनुकूल नहीं होता है। अतः जब कोई ग्रह लग्न में स्थित हो जाता है तो वह अपनी अस्थि आदि धातुओं का विशेष या पूर्णरूपेण प्रतिनिधित्व करता है।

लग्न ग्रह	**धातु**
सूर्य	अस्ति
चन्द्रमा	रक्त

मंगल	मांस
बुध	त्वचा
गुरु	वसा
शुक्र	वीर्य
सनी	स्नायु

जब कोई ग्रहण लग्न में स्थित हो या लग्नेश हो तो वह शरीर के उन तत्वों का विशेष प्रतिनिधित्व करता है, जो शरीर में अधिक व्यापक हैं। उदाहरण के लिए जैसे सूर्य-आंख, हृदय एवं हड्डी इन सब का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसी प्रकार चन्द्रमा मन का, फेफड़ों का, रक्त का प्रतिनिधित्व करते हैं। मंगल मांस एवं मज्जा का प्रतिनिधित्व करते हैं। बुध वाक्शक्ति, श्रवणशक्ति एवं त्वचा का प्रतिनिधित्व करते हैं। गुरु उदर, चर्बी का प्रतिनिधित्व करते हैं। शुक्र नेत्र, मूत्र एवं वीर्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। शनि पैर एवं स्नायु का प्रतिनिधित्व करते हैं। उदाहरण के लिए जैसे कह सकते हैं कि लग्न में स्थिति या लग्नेश होकर सूर्य हड्डी का विशेष प्रतिनिधित्व करेगा क्योंकि शरीर में हड्डी, आंख एवं हृदय की अपेक्षा अधिक व्यापक है। इसी प्रकार चन्द्रमा मन,फेफडे एवं रक्त इन सब को प्रदर्शित करते हैं परंतु लग्न में स्थिति लग्नेश होने पर रक्त का विशेष प्रतिनिधि हो जाता है।

जब कोई ग्रह लग्न में स्थित या लग्नेश होकर निर्बल एवं पाप ग्रह से प्रभावित युक्त होता है तो तब ग्रहों से निम्नोक्त रोगों का अनुमान लगाया जा सकता है—

सूर्य से अस्थि, ज्वर, हड्डी, दुर्बलता आदि। चन्द्रमा से रक्तविकार, रक्तचाप आदि। मंगल से सूखा रोग, बुध से त्वचा रोग, दाद, खाज, खुजली, फुंसी, फोड़ा इत्यादि। गुरु से दुर्बलता, स्थूलता। शुक्र से वीर्य विकार, प्रमेह, मधुमेह, धातु क्षय आदि। शनि स्नायु दुर्बलता, फालिस, लकवा आदि का विचार किया जाता है।

2. नीच राशि, शत्रुराशि में स्थिति या निर्बलता—

नीच राशि शत्रुराशिगत एवं अन्य प्रकार से निर्बल ग्रह शरीर में अपनी धातु की अपेक्षित पूर्ति नहीं कर पाता तथा वह जिन अंगों का प्रतिनिधित्व करता है, उनका भी सम्यक विकास नहीं होने देता है। इस प्रकार का ग्रह अपने तत्व के अभाव द्वारा कारकत्व के अनुसार अंग या धातु में विकार उत्पन्न कर रोग देता है। जैसे—

सूर्य यदि नीच राशि गत या निर्बल ग्रह हो तो पित्त, ज्वर, दाह, नेत्र पीड़ा एवं हृदय दुर्बलता आदि रोगों को जन्म देता है। चन्द्रमा कफरोग, शीतज्वर, उन्माद, जलोदर आदि लोगों को देता है। मंगल जलना, गिरना, गुप्त रोग आदि को देता है। बुध त्रिदोष, चर्म रोग, कर्ण रोग को देते हैं। गुरु सूजन, नितंब एवं पैरों में पीड़ा को देते हैं। शुक्र वीर्यविकार, नेत्र रोग, मुख रोग, मूत्र रोग आदि को देते हैं। शनि दर्द, वायु विकार, स्नायुविकार आदि के देते है।

3. पाप ग्रहों से प्रभावित होना—

पाप ग्रहों के साथ होना या पाप ग्रहों से दृष्ट होना पाप प्रभाव कहलाता है। जिस भाव का प्रतिनिधि ग्रह पाप ग्रहों से दृष्ट है या युत होता है वह अपने भाव से संबंधित अंग रोग उत्पन्न करता है।

4. रोग भाव का प्रतिनिधित्व—

षष्ठ स्थान को रोग का स्थान कहां गया है, अत: षष्ठेश रोग को देने वाला होता है। यह छठे स्थान में स्थित होकर स्वयं की प्रकृति एवं कारकत्व के अनुसार रोग देता है। जैसे— षष्टम स्थान में स्थित चंद्रमा कफ विकार, शीत ज्वर एवं नेत्र विकार करता है। किन्तु षष्ठेश का किसी अन्य भाव में परिवर्तन योग हो तो वह भाव से संबंध व्यक्ति का अंग को रोक देगा। जैसे- चतुर्थेश से माता को रोग दे सकता है। और अष्टमेश से नेत्र पीड़ा या गुप्तांग से संबंधित रोग को दे सकता है। षष्टम एवं अष्टम स्थान मैं स्थित षष्ठेश विभिन्न ग्रहों से युक्त होकर विभिन्न स्थानों में रोग उत्पन्न करने वाला होता है। जैसे— सूर्य से युक्त हो तो सिर पर, चन्द्रमा से युक्त हो तो मुख में, मंगल से युक्त हो तो कंठ में, बुध से युक्त हो तो नाभि में, गुरु संयुक्त हो तो नासिका में, शुक्र संयुक्त हो तो नेत्र में, शनि संयुक्त हो तो पैर में तथा राहु केतु युक्त होकर पेट में रोग उत्पन्न करता है।

तेषामपि व्रणं वाच्यमादित्येन शिरोव्रणम।
इन्दुना च मुखे कण्ठे भैमेन ज्ञेन नाभिषु
गुरूणा नासिकायां च भृगुणा नयने पदे ।
शनिना राहुणा कुक्षां केतुना च तथा भवेत्।।

5. अष्टम एवं व्ययभाव का प्रतिनिधित्व—

अष्टम एवं स्थान रोग कारक स्थान है। अतः इन के स्वामी ग्रह भी रोग कारक होते हैं। कदाचित इन स्थानों के स्वामी मंगल या शनि हो तो वह और अधिक शक्ति प्रदान कर जिस भाव राशि में अपना युति दृष्टि द्वारा प्रभाव को विनियोग करेंगे, उस राशि भाव संबंधित अंग में रोग उत्पत्ति कर देंगे केवल अष्टमेश या द्वादश इसका प्रभाव रोग के आधारभूत कारणों को ही उत्पन्न करने का कुछ प्रयास कर सकता है, जब तक कि उसमें किसी प्रकार का प्रभाव निहित न हो चुका हो, महर्षि पाराशर के अनुसार सूर्य चंद्रमा एवं लग्नेश अष्टम भाव के स्वामी होने पर भी अशुभ फल दाता नहीं होते हैं। तथा व्ययेश त्रिकोण भाव का स्वामी होने पर शुभ फलदायक हो जाता है। यदि सूर्य और चन्द्रमा व्ययेश होकर त्रिकोणेश से संबंध करें तो वे असुफल नहीं देते। अतः अष्टमेश व्ययेश से रोग देने की क्षमता का निश्चय करते समय यह सब ध्यान में रखना चाहिए।

6. षष्ठ भाव में स्थिति—

छठे भाव को रोग कारक माना गया है। यह ग्रह जिस राशि एवं भाव का स्वामी हो या कारक हो वह राशि और भाव काल पुरुष के जिस अंग में पढ़ती हो अथवा जिस अंग आदि का कार्य को उस अंग में रोग उत्पत्ति करता है। किंतु यह सदैव ध्यान में रखना

चाहिए कि ऐसा ग्रह जब पाप प्रभाव में हो तभी रोग उत्पन्न कर सकता है। शुभ प्रभाव होने पर किसी भी प्रकार के रोग उत्पन्न नहीं होती है। किसी भाव का स्वामी छठे, आठवें, बारहवें भाव में स्थित होकर उस भाव के शुभ फल को नष्ट कर देता है। जैसे छठा भाव शारीरिक प्रगति, उन्नति एवं पुष्टि सब को रोकता है। यह दुर्बलता वश रोग का कारक हो जाता है। ज्योतिषी ग्रंथों में कहा गया है कि पंचम भाव का स्वामी छठे भाव में होकर पुत्र कारक गुरु एवं सूर्य से युक्त हो तो उसकी पत्नी को गर्वस्राव होता है। अथवा संतान होने में कष्ट अनुभूति होती है। आशय स्पष्ट है कि संतति भाव का स्वामी एवं कारक यह दोनों जब छठे भाव में रहेंगे तब गर्भ की पुष्टि या वृद्धि होने में कठिनाइयां होंगी अपितु उपर्युक्त सिद्धांत अनुसार पंचम भाव का शुभ फल नष्ट होने से इस प्रकार की संभावना बनती है।

7. मारकत्व का प्रभाव—

ज्योतिषशास्त्र के सभी ग्रंथों में बालारिष्ट अर्थात् बाल्यावस्था में अकाल मृत्यु का विस्तृत विवेचन मिलता है। इस अरिष्ट योग के प्रमुख कारण इस प्रकार हैं—

1. लग्न या लग्नेश का निर्मल होना— लग्न या लग्नेश के बलाबल से स्वास्थ्य, शारीरिक वृद्धि एवं आयु का विचार करते हैं और इन दोनों की निर्बलता से मानव को जीवन में मिलने की संभावना नष्ट हो जाती है।

2. अष्टम भाव एवं अष्टमेश के निर्बल होने पर— ज्योतिषशास्त्र में सभी आचार्यों ने अष्टम स्थान को आयु स्थान माना है अतः इसकी निर्बलता भी जीवन के लिए हानिकारक है।

3. चन्द्रमा के क्षीण एवं पाप प्रभाव में होने पर— चंद्रमा बाल्यावस्था का प्रतिनिधि ग्रह है यह पाप प्रभाव द्वारा व्यक्त करता है कि आयु में अवश्य किसी प्रकार का कष्ट होगा।

ग्रहों / भाव के अनुसार रोग विचार—

ग्रह भाव के अनुसार रोग विचार को निम्न तालिका के माध्यम से समझते हैं—

सूर्य— पित्त रोग, उष्ण ज्वर, शरीर जलन, मिर्गी, हृदय रोग, नेत्र रोग, नाभि से नीचे प्रदेश या कोख में पीड़ा, चर्म रोग, अग्नि रोग, ज्वर वृद्धि, अतिसार, चित्त व्याकुलता, शस्त्र एवं व्रण से कष्ट, शिर में पीड़ा आदि।

चन्द्रमा— निद्रा रोग, आलस्य, कफ, अतिसार, मंदाग्नि, अरूचि, पीलिया, रक्त विकार, पांडू रोग, जलोदर, स्त्री जन्य रोग, प्रमेह, वाताधिक्य, मानसिक रोग आदि।

मंगल— पित्त ज्वर, जलन, विषमय, तृष्णा, नेत्र रोग, अपस्मार, खुजली , रक्त विकार, रक्तचाप आदि।

बुध— गले का रोग, नेत्र रोग, भ्रांति, नासिका रोग, त्रिदोष ज्वर, चर्म रोग, पीलिया, खुजली, दाद, उदर विकार, गुप्त रोग, वायु विकार, कुष्ठ, मंदाकिनी, चेचक आदि।

गुरु— पेट संबंधित रोग, टाइफाइड, कर्ण रोग, कफ रोग, ज्वर, सर्दी, हर्निया आदि।

शुक्र— पांडू, कफ एवं वायु विकार, नेत्र रोग, मोतियाबिंद रोग, मूत्र रोग, वीर्य की कमी, संभोग, स्त्री जन्य रोग, मधुमेह, कामजन्य पीड़ा, स्वप्नदोष आदि।

शनि— मानसिक रोग, बौद्धिक रोग, उष्णता रोग, गठिया रोग, हर्निया रोग, गुप्तेन्द्रि में पीड़ा रोग, पीलिया, फालिस, कैंसर रोग आदि।

राहु — कुष्ठ रोग, मानसिक रोग, हृदय रोग, पैर में चोट, कृमि रोग आदि।

केतु — श्वेत कुष्ठ रोग, चर्म रोग, पांडु रोग, मसूरी का रोग, जलोदर रोग आदि।

ग्रहयोग के अनुसार रोग विचार—

ग्रह योग द्वारा रोग के उत्पत्ति काल का ज्ञान होता है। उसके द्वारा जीवन भर रहने वाले रोगों की भी जानकारी प्राप्त होती है। इस प्रकार ग्रह योग द्वारा रोगोत्पत्ति को इस प्रकार जानने का प्रयास करते हैं—

I. षष्टम भाव एवं षष्ठेश पापयुक्त हो तथा शनि राहु से युक्त दृष्ट हो तो मनुष्य जीवन भर रोगी रहता है।
II. षष्ट भाव में मंगल अष्टम भाव में षष्ठेश हो तो छठे या आठवें वर्ष में ज्वर होता है।
III. षष्ठ भाव में गुरु हो तथा चंद्रमा गुरु की राशि में हो तो वर्ष में कुष्ठ 22 या 19 रोग होता है।
IV. षष्टम भाव में राहु, केतु केन्द्र में शनि एवं अष्टम भाव में लग्नेश हो तो वर्ष 26 30 या 29 श द्वादश में हो तोमें क्षय रोग होता है। द्वादशेश षष्ठ में तथा षष्ठे वें वर्ष में गुल्म रोग होता है।
V. शनि के साथ चन्द्रमा षष्ठ स्थान में हो तो कुष्ठ रोग होता है।वर्ष में रक्त 45
VI. लग्नेश लग्न में तथा शनि षष्ठ भाव में हो तो वर्षों में बात रोग होता है। 49

राशियों के अनुसार रोग विचार—

मेषादि राशियों में पाप ग्रह प्रभाववश निम्नलिखित रोगों की उत्पत्ति होती है—

मेष— पित्त ज्वर, तृष्णा, दाह, लू लगना, जठराग्नि संबंधी रोग आदि।

वृष— त्रिदोष जन्य रोग, सन्निपात, नपुंसकता रोग आदि।

मिथुन— श्वास,कास, दमा, कामुकता आदि।

कर्क— पागलपन, उन्माद, वात रोग, अरुचि आदि।

सिंह— ज्वर, स्फोट, स्नायविक तनाव आदि।

कन्या— स्त्रियों के कारण गुप्त रोग आदि।

तुला— सन्निपात, प्रमेह, शरीर का संतुलन न बनने कारण गिरना आदि।

वृश्चिक— पीलिया, पांडु रोग आदि।

धनु— पेड़ से गिरना, पैर एवं कमर में चोट आदि।

मगर— पेट दर्द, पेट में फोड़ा, अरुचि आदि।

कुंभ— खासी, ज्वार, कप, क्षय रोग आदि।

मीन— जलोदर, काफ, शीतविकार आदि ।

4.4 रोगोत्पत्ति का समयादि परिज्ञान

रोग की उत्पत्ति समयादि का ज्ञान व्यक्ति के जन्म से अवसान पर्यंत तक चलने वाले रोगों के प्रारंभिक काल का विचार नहीं किया जाता। इन रोगों का विचार ग्रह योग के आधार पर किया जाता है। सभी रोगों के होने की संभावना का विचार रोग कारक ग्रह की दशा, अंतर्दशा, गोचर ग्रह की स्थिति के आधार पर किया जाता है। लम्बे समय तक चलने वाले रोग को ग्रहों की महादशा एवं अंतर्दशा के आधार पर जाना जाता है एवं अल्पकालीन या कम समय के लिए रोग की जानकारी के लिए उनकी प्रत्यंतर एवं सूक्ष्म दशा के आधार पर उन्हें जाना जाता है। ज्योतिषशास्त्र में विंशोत्तरी महादशा की प्रधानता है। जिससे जातक की भावी घटनाओं शुभ अशुभ का विचार हम कर पाते हैं।

दशाओं के आधार पर रोगोत्पत्ति—

ज्योतिषशास्त्र में ग्रहों के शुभाशुभ फल का समय जानने के लिए विंशोत्तरी महादशा की प्रधानता है । मारकेश का निर्णय भी विंशोत्तरी दशा से ही किया जाता है, जो रोगों के साध्यत्व एवं असाध्यत्व के निर्णय में अहम भूमिका प्रस्तुत करता है। अतः रोग की उत्पत्ति में सम्भावित समय का विचार विंशोत्तरी दशा के अनुसार करेंगे। इस दशा में आयु का अधिकतम मान 120 वर्ष मानकर ग्रहों की दशा वर्षों का विभाजन किया गया है। जो इस प्रकार है— सूर्य की दशा 6 वर्ष, चंद्रमा की दशा 10 वर्ष, मंगल की 7 वर्ष, राहु के 18 वर्ष, बृहस्पति की 16 वर्ष, शनि की 19 वर्ष, बुध की 17 वर्ष, केतु की 7 वर्ष, शुक्र की 20 वर्ष माना गया है।

इन दशा का ज्ञान जन्म नक्षत्र के आधार पर किया जाता है। इसलिए कृत्तिका, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में जन्म होने पर सूर्य की दशा, रोहिणी, हस्त, श्रवण नक्षत्र में जन्म होने से चंद्रमा की दशा, मृगशिरा, चित्रा, धनिष्ठा नक्षत्र में जन्म होने से मंगल की दशा, आर्द्रा स्वाति, शतभिषा नक्षत्र में जन्म होने से राहु की दशा, पुनर्वसु, विशाखा, पूर्वाभाद्रपद नक्षत्र में जन्म होने से गुरु की महादशा, पुष्य, अनुराधा, उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में जन्म होने से शनि की महादशा, आश्लेषा, ज्येष्ठा, रेवती नक्षत्र में जन्म होने से केतु की महादशा तथा भरणी, पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में जन्म होने से शुक्र की महादशा होती है।

रोगोत्पत्ति का समय—

रोग कारक ग्रह से ही संबंधित रोग की समुचित जानकारी को हम जान सकते हैं। ग्रह रोगों को उत्पन्न नहीं करते अपितु उत्पन्न होने वाले रोगों की सूचना देते हैं। अतः प्रत्येक ग्रह के ग्रह योग के आधार पर संबंधित रोग कारक ग्रह के द्वारा उस रोग की उत्पत्ति का समय या काल का निर्धारण किया जाता है। रोगोत्पत्ति के संभावित समय

का निर्धारण दो प्रकार से किया जाता है— 1. योग द्वारा और 2. दशा द्वारा। योग में बतलाए गये वर्ष में रोगोंत्पत्ति के काल का निर्धारण दशा फल नियमों की अपेक्षा रखता है। दशा का फल दो प्रकार का होता है। 1. साधारण तथा 2. विशिष्ट।

ग्रहस्थान, स्थिति बल एवं योग के कारण जो फल देते हैं वह विशिष्ट फल कहलाता है।

साधारण फल वह है जिसकी अनुभूति मात्र होती है। जबकि विशिष्ट फल जीवन में विलक्षण घटनाओं को घटित करता है। रोग जीवन में घटित होने वाली वह विशिष्ट घटना है जो मनुष्य के जीवन में उथल-पुथल मचा सकती है। अत: रोगोत्पत्ति को साधारण फल न मानकर विशिष्ट फल ही मानना चाहिए।

ग्रह दशा के अनुसार रोगोत्पत्ति—

रोगेश, अष्टमेश, मारकेश नीचराशिगत ग्रह, उच्चराशिगत ग्रह, निर्बल ग्रह, पापदृष्ट ग्रह, क्रूर ग्रह, रोग कारक होते हैं। जीवन में जब-जब इन ग्रहों की दशा, अंतर्दशा, प्रत्यंतर दशा, सूक्ष्मदशा आती है, तब तब मनुष्य को रोग तुल्य कष्ट होता है या रोग होता है। किस-किस ग्रह की दशा में कौन-कौन सा रोग हो सकता है यह जानकारी के को हम इस प्रकार से जानने का प्रयास करेंगे।

सूर्य की महादशा में होने वाले रोग—

सामान्यतया सूर्य की दशा में ज्वर, पित्त प्रकोप एवं सिरदर्द होता है। किन्तु वह किसी कारण से रोग कारक हो तो विविध स्थिति में विविध रोगों को उत्पन्न करता है। यदि सूर्य परम नीच राशि गत हो तो विपत्ति एवं मृत्यु तुल्य रोग देता है। अतिशत्रु राशिगत सूर्य की दशा में शारीरिक कष्ट होता है। शत्रु राशिगत सूर्य की महादशा में अग्नि एवं चोर भय होता है। नीचग्रह से युक्त सूर्य की दशा में मनोविकार पापदृष्ट सूर्य की दशा में कृशता, कमजोरी। छठे स्थान में स्थित सूर्य की दशा में गोल्म, अतिसार प्रमेह आदि रोग होते हैं। द्वादशभावस्त सूर्य की दशा में विष भय होता है।

चन्द्रमा की महादशा में होने वाले रोग—

चन्द्रमा की महादशा में प्रायः सर्दी, जुकाम, खांसी, मानसिक अस्थिरता एवं कामजन्य रोग होते हैं। किन्तु जब यह किसी कारण से रोग कारक हो जाते हैं तो विविध रोगों को उत्पन्न करते हैं। जैसे—नीचांशगत चन्द्रमा की महादशा में मानसिक विकार एवं नेत्र रोग होते हैं। अतिशत्रुराशि गत चन्द्रमा की दशा में कलह एवं उद्वेग होता है। नीच राशि गत चन्द्रमा की दशा में अग्निभय एवं मनोव्यथा। अष्टमभावस्थ चन्द्रमा की दशा में जलभय, जलोदर रोग होता हैं।

मंगल की महादशा में होने वाले रोग—

मंगल की दशा में सामान्यतः रक्त विकार, चोट, दुर्घटना, लड़ाई तथा राजा से शारीरिक दण्ड मिलता है। किंतु जब यह किसी कारणवश रोग कारक हो जाता है तो विभिन्न स्थितियों में अपनी दशा के समय विभिन्न रोगों को उत्पन्न करता है। नीचस्थ

मंगल की दशा में चोरपीडा, अग्निभय। शत्रु राशि गत मंगल की दशा में प्रमाद, गुदा रोग, नेत्र रोग। नीच ग्रह गत मंगल की दशा में मानसिक विकार, केंद्रस्थ मंगल की दशा में विषजन्य रोग। सप्तमस्थ मंगल की दशा में गुदा रोग, पंचमस्त मंगल की दशा में जड़ता एवं बुद्धि भ्रम, अष्टमस्त मंगल की दशा में विस्फोट, विसर्ग, बक्री मंगल की दशा में सर्पदंश आदि रोग होते हैं।

बुध की महादशा में होने वाले रोग—

बुध की दशा में सामान्यतः ज्वर, चर्मरोग एवं मानसिक अस्थिरता रहती है। किन्तु जब यह किसी कारणवश रोगकारक बन जाता है, तो इसकी दशा में अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। जैसे— शत्रु राशि गत बुध की दशा में विपत्ति, समराशिगत बुध की दशा में फोड़ा, फुंसी, नीचराशिगत बुध की दशा में मानसिक रोग, पापदृष्ट बुध की दशा में कृच्छ रोग, तृतीयभावस्थ बुध की दशा में जड़ता, गुल्म रोग, पंचमस्थ बुध की दशा में चिंता, सिरदर्द, द्वादशस्थ बुध की दशा में अंगों के विकलता, मृत्यु आदि रोग होते हैं।

गुरू की महादशा में होने वाले रोग—

गुरु की दशा में सामान्यतः उदर विकार, स्थूलता बढ़ जाती है। किन्तु जब यह किसी कारणवश रोग कारक बन जाता है, तो अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। जैसे— नीचग्रहगत गुरु की दिशा में मानसिक रोग, निचांशयुत गुरु की दशा में गुल्म रोग, अस्तंगत गुरु की दशा में अनेक रोग, षष्ठस्थ गुरु की दशा में वात रोग, उदर रोग होते हैं।

शुक्र की महादशा में होने वाले रोग—

शुक्र की दशा में सामान्यता वीर्यरोग, कामरोग एवं स्त्रीजन्य रोगों के होने की संभावना रहती है। किन्तु जब यह रोग कारक हो जाता है तो विभिन्न स्थितियों में अपनी दशा में विविध रोगों को उत्पन्न करता है। जैसे—परमनीचगत शुक्र की दशा में मानसिक रोग, अतिशत्रुराशिगत शुक्र की दशा में नेत्र रोग, समराशिगत शुक्र की दशा में प्रमेह, गुल्म, गुदा रोग, सप्तमस्त शुक्र की दशा में प्रमेह, षष्ठस्थ शुक्र की दशा में शस्त्र से चोट लगने का भय रहता है।

शनि की महादशा में होने वाले रोग—

शनि की दशा में सामान्यतया वायु विकार, व्यग्रता एवं व्यग्रता रहती है। किन्तु जब यह किसी कारणवश रोग कारक हो जाता है तब वह विभिन्न परिस्थितियों में अपनी दशा में विविध रोग उत्पन्न करता है। जैसे— अतिशत्रुराशिगत शनि की दशा में चोर एवं राजा से भय, शत्रुराशिगत शनि की दशा में कृशता, समराशिगत शनि की दशा में क्षय, वातरोग, पित्तरोग। लग्नस्थ शनि की दशा में कृशता, सिरदर्द। तृतीयस्थ शनि की दशा में मानसिक रोग, सप्तमस्तराशिगत शनि की दशा में जड़ता, मूत्रकृच्छ रोग होते हैं।

राहु की महादशा में होने वाले रोग—

राहु की दशा के समय में सामान्यतया उदर विकार, मानसिक उद्वेग, छोटी मोटी बीमारी चलती रहती है। इसकी दशा में शत्रुओं के प्रपंच एवं अभिचार जन्य रोग भी होते हैं। जब यह किसी कारणवश रोग कारक हो जाता है तब विविध स्थितियों में निम्न रोगों को उत्पन्न करता है। जैसे— नीचराशिस्थ राहु की दशा में विषभय, लग्नस्थ राशि राहु की दशा में विष, अग्नि एवं शस्त्र से भय, द्वितीयस्थ राहु की दशा में मानसिक विकार, चतुर्थ राहु की दशा में मनोव्यथा, पंचमस्थ राहु की दशा में बुद्धिभ्रम, सप्तमस्त राहु की दशा में सर्पदंश, पापदृष्ट राहु की दशा में अग्निभय होता है।

केतु की महादशा में होने वाले रोग—

केतु की दशा के समय में सामान्यतया भ्रम,भय,एवं मन में चंचलता रहती है। किन्तु जब किसी कारणवश रोगकारक बन जाता है, तब विभिन्न परिस्थितियों में अपनी दशा में विविध रोगों को उत्पन्न ना करता है। जैसे— लग्नगत केतु की दशा में ज्वर, अतिसार, प्रमेह, विस्फोट, हैजा। द्वितीय भाव में केतु की दशा में मानसिक व्यथा, पंचम भावगत केतु की दशा में बुद्धिभ्रम, सप्तमभावगत केतु की महादशा में मूत्रकृच्छ, मानसिक रोग, दशमभावगत केतु की महादशा में मन में जड़ता, अदिविकार, द्वादश भाव में केतु की दशा में नेत्र विकार,पापदृष्ट केतु की दशा में चर्म रोग आदि होते हैं।

4.5 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के बाद आपको ज्ञात हुआ है कि रोगों के मूल कारण क्या है। अत: इस इकाई के अध्ययन के बाद आप चिकित्सा ज्योतिष के मूल सिद्धान्त को विविध मतों का अवलोकन करते हुये रोगों के मुख्य कारण साथ ही आयुर्वेद एवं ज्योतिषी दृष्टि में रोग, रोगोत्पेत्ति का समयादि परिज्ञान आदि का अध्ययन आप इस इकाई के माध्यम से करेंगे।

4.6 बोध प्रश्न

1. आयुर्वेद के मतानुसार रोगों की उत्पत्ति का मूल कारण बताया गया है।

क. कर्म को

ख. दोष प्रकोप को

ग. क एवं ख दोनों

घ. भाग्य को

2. प्रश्नमार्ग में उन्माद के कितने भेद बतलाये गये हैं।

क. पांच भेद

ख. चार भेद

ग. तीन भेद

घ. दश भेद

3. ज्योतिषशास्त्र में रागों को कितने प्रकार का माना गया है।

क. दो प्रकार

ख एक प्रकार

ग. तीन प्रकार

घ. चार प्रकार

4. राशियां कितनी होती हैं।

क. 10

ख. 12

ग. 9

घ. 7

4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. चरक संहिता, विद्योतिनी टीका, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी।
2. प्रश्नमार्ग,शुकदेव चतुर्वेदी, रंजन पब्लिकेशन, दिल्ली।
3. बृहत्संहिता, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी।
4. भरतीय ज्यातिष, डा.नेमिचन्द्र शास्त्री,भरतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।
5. ज्योतिष में रोगविचार,डा.शुकदेव चतुर्वेदी,मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

4.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. ग
2. क
3. क
4. ख

4.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. ग्रह दशा के अनुसार रोगोत्पत्ति को विस्तार से वर्णन करें।
2. रोगों के मुख्य कारण पर विस्तार पूवर्क चर्चा करें।